कल्कि

या

सभ्यता का भविष्य

सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

अनुवादक
पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे

सं च यि नी ● क ल क त्ता

प्रकाशक
'संचयिनी'
२४, स्ट्रान्ड रोड, कलकत्ता ।

प्रथम संस्करण १९४५
मूल्य २)

मुद्रक
भगवतीप्रसाद सिंह
न्यू राजस्थान प्रेस,
७३ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,
कलकत्ता ।

अपनी ओर से

गुजरी हुई घड़ियाँ इसलिये सींचती हैं क्योंकि वे बीत चुकीं—भविष्य चाहे कितना ही खुला हो। पर हमारी रंगभूमि के केन्द्र के आसपास तो बिखरे कुछ तीखे परिणामों के तीखे फल हैं, समस्याओं की हरी खेती है और सामने है भविष्य निर्माण की हमारी बुद्धि की परख।

'कल्कि' इन्हीं रूपरेखाओं में बँध कर सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्‌जी की प्रखर बुद्धि का विषय बनी।

अतीत से हम भारती-मन्दिर में इन्हें भेंट से रखते अवश्य हैं पर केवल प्रकाशन से ही हम अपनी जिम्मेदारियों से छूट जाते हैं ऐसी कोई बात नहीं है। अस्तु कुछ अलग ही बन रहा है।

बसन्त पञ्चमी
वि० सं० दो हजार दस —प्रकाशक
कलकत्ता।

सूची

पृष्ठ

कल्कि

अर्थात्

सभ्यता का भविष्य

प्रस्तावना

संसार की सभ्यता इस समय अपने एक नियतकालिक क्रान्तिकाल में से गुजरती हुई मालूम होती है। संसार अपना पुराना लिवास उतार कर फेंक रहा है। पारस्परिक व्यवहार के जो मान, जीवनोद्योग के जो लक्ष्य और समाज-व्यवस्था के जो ढाँचे आज से एक पीढ़ी पहले तक भी प्रायः सर्वमान्य समझे जाते थे, आज उनकी मान्यता अस्वीकार की जा रही है और वे बदलते जा रहे हैं। पुराने हेतु कमजोर पड़ते जा रहे हैं और नये भाव उदय हो रहे हैं। इस युग के मानव मन को जो ठीक तरह से परखता है उसे पूरा पता है कि इसके अन्दर कितनी अशान्ति और अनिश्चितता भरी हुई है, किस कदर यह वर्त्तमान आर्थिक और सामाजिक अवस्थाओं से असन्तुष्ट और उस नवविधान के पीछे व्यग्र है जो अभी आँखों के सामने नहीं है। यह सारी विचार की गड़बड़ी और अपरिलक्षित आदर्शों के लिये अस्थिर उत्साह यही जाहिर करते हैं

कि मानव जाति उन्नति की ओर एक नया कदम उठाने वाली है।

इस अस्थिरता के मुख्य कारणों में से एक कारण आधुनिक विज्ञान है। विज्ञान हमारी वर्त्तमान सभ्यता की ही कोई खास चीज तो नहीं है, पर इसके उन्नतिक्रम में इधर कुछ काल से इतनी अधिक तेजी आ गयी है और इसका क्षेत्र इतना विस्तृत और गहरा हो गया है कि हम लोग तुरत उसे ग्रहण कर लेने में असमर्थ होते हैं। किसी जानवर को यदि हम उसकी चिर अभ्यस्त परिस्थिति में से निकाल कर किसी दूसरी परिस्थिति में डाल दें तो निश्चय ही वह दुखी और बेचैन होगा, जब तक कि वह अपने आपको नयी परिस्थिति के अनुकूल न बना ले। रिपन के बिशाप (पादरी) ने एक बार थोड़े समय के लिये 'वैज्ञानिक छुट्टी' मनाने की सलाह दी थी, उनका अभिप्राय यही जतलाना था कि विज्ञान बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ता और नये नये आविष्कार संसार को देता जा रहा है पर मनुष्य जिसके उपयोग करने के लिये ये आविष्कार हैं, उतनी ही तेजी के साथ अपने आपको नहीं सुधार रहा है।

संसार बाह्यतः एक रूप बन रहा है। क्या यूरोप और अमेरिका, और क्या एशिया और अफ्रिका, जा रहे हैं एक ही तरफ; केवल एक बड़ी तेजी से जा रहे हैं और दूसरे उतनी

तेजी से नहीं। मोटर, हवाई जहाज और सिनेमा जो आधुनिकता की दीक्षा के मुख्य चिन्ह हैं सबसे पिछड़े हुए देशों में भी पहुँच गये हैं। चीनसे मेक्सिको तक सर्वत्र यही विश्वास बढ़ता जा रहा है कि उन्नति का सारा दारमदार प्रकृति के साधनों पर मनुष्य की हुकूमत और प्रकृति की शक्तियों से काम लेने की उसकी सामर्थ्य के सतत विस्तार पर ही है।

इसी अप्रतिहत प्रवाह में हिन्दुस्थान और चीन भी खिंचे चले आ रहे हैं। पूर्व के देशों में देख पड़ने वाली अशान्ति के मूल में यही नव चेतना है कि यदि पूर्व के राष्ट्रों को सड़ना गलना और मर जाना नहीं है तो उन्हें उन अन्य राष्ट्रों की पंक्ति में आकर खड़े होना होगा जो राष्ट्र अपनी साहसिकता और संघटन-शक्ति से पृथ्वी के ओर से छोर तक अपना साम्राज्य फैलाये हुए हैं। पूर्व और पश्चिम के बीच इतना तीव्र भेद नहीं है जितना कि कुछ आतङ्कवादी लोग बतलाया करते हैं। आत्मा और बुद्धि की कृतियाँ, प्रत्यक्ष विज्ञान, एंजीनयरी कला के कौशल, राज्य-पद्धति के रूप, कानून की रीतियाँ, शासन की व्यवस्थाएँ और आर्थिक संस्थाएँ विभिन्न संस्कृतियों के लोगों को एक सूत्र में बाँध रही हैं और उनमें परस्पर अधिकाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर रही है। सारा संसार आज एक शरीर बन कर काम करने की ओर जा रहा है।

इस बाह्य एकरूपता ने मन-बुद्धि और हृदय की आन्तरिक एकता, अवश्य ही, नहीं साधित हुई है। यह नवीन सामीप्य, जिसमें हम लोग आ गये हैं, हमारे लिये सुख की वृद्धि और संघर्ष की कमी का कारण नहीं हुआ, क्योंकि इस मिलन के लिये हम लोग मन-बुद्धि और हृदय से तैयार नहीं हैं। मैक्सिम गोर्की बतलाते हैं कि एक बार उन्होंने किसानों की एक जमात के सामने "विज्ञान और यान्त्रिक अविष्कारों के चमत्कार" पर एक व्याख्यान दिया। किसानों के एक मुखिया ने उस व्याख्यान की यों आलोचना की "जी हाँ, चिड़ियों की तरह हवा में उड़ना और मछलियों की तरह पानी में तैरना तो हम लोगों को सिखलाया जाता है पर हम पृथ्वी पर हम लोगों को कैसे रहना चाहिये यह हम लोग नहीं जानते। इस छोटी-सी दुनियाँ में अनेकों जातियाँ, धर्म, सम्प्रदाय और राष्ट्र पास-पास रहते हैं, पर उनमें वह सख्य नहीं है जिसका होना साधु जीवन के लिये आवश्यक है। सब एक दूसरे को शत्रु समझ रहे हैं। मानव जाति ने एक-सा बाह्य शरीर तो धारण किया है, पर इसे अनुप्राणित करने वाला कोई एक भाव इसके अन्दर अब भी नहीं है संसार का अन्तःकरण एक नहीं है।"

पाश्चात्य देशों के ह्रास के सम्बन्ध में लिखे हुए अपने

विख्यात ग्रन्थ में स्पेंगलर ने यह पक्ष उपस्थित किया है कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ होती हैं जो उन राष्ट्रों के राष्ट्र-विशिष्ट आदर्शों को व्यक्त करने का काम करती हैं। यह एक ऐसी बात है जिससे इस आशा पर ही पानी फिर जाता है कि सारे सभ्य संसार की कोई एक-सी संस्कृति भविष्य में विकसित होगी। उनका यह गृहित सिद्धान्त कि जातियाँ और संस्कृतियाँ अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखती हैं और उनकी उत्पत्ति, वृद्धि, ह्रास और अपक्षय का अपना-अपना एक बँधा हुआ छन्दानुपक्रम है, है तो चित्ताकर्षक पर वस्तुस्थिति से पूरा मेल खाता हुआ नहीं दीखता। भूतकाल में, सम्भवतः, देश-विशिष्ट सभ्यताएँ पूर्व-संचित को लेकर ही एकके बाद दूसरी आगे आयी है अथवा यों कहिये कि एक सभ्यता अपने बालपन, यौवन, प्रौढ़ावस्था और जरा में से होकर जब क्षय को प्राप्त हुई तब वह अपनी बपौती उस नवीन सभ्यता के लिये छोड़ गयी जो उसके बाद उत्पन्न हुई। पर इसी मार्ग से आगे बढ़ने में अब व्यवहारतः उन्नति की संभावना नहीं रह गयी है। कारण, देश-विशेष से बँधी रहने वाली देश-विशिष्ट सभ्यताओं का जमाना अब खत्म हो चला है। मानव जाति के इतिहास को देखते हुए भी हम लोग किसी प्रकार निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि यह

इतिहास किसी समय एक ही निरन्तर प्रवाह था और पीछे विभिन्न जातियों के प्राकृत भावों और जाति-विशिष्ट गुणों के भेद से उसके भिन्न-भिन्न स्रोत बन गये। जो बातें निश्चित रूप से जानी जा चुकी हैं उससे यही सूचित होता है कि विभिन्न संस्कृतियाँ बहुत काल तक अपने-अपने विभिन्न मार्गों पर चलती रहीं, पीछे एक दूसरी की ओर मुड़ने लगीं, और अब एकत्र होकर एक महान् प्रवाह बना चाहती हैं। स्पेंगलर यह बतलाते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति अपने अटल भवितव्य के वश अपनी जरावस्था में से होकर गुजर रही है, उसकी इस गति के विरुद्ध खड़े होना वृथा है। इस परिदर्शन के पीछे जो सत्य है वह इससे बहुत अधिक महान् है, वह यही है कि सारी देश-विशिष्ट सभ्यताएँ अब विनष्ट होने जा रही हैं और हम लोग विश्वव्यापक परिमाण पर जीवन-कौशल-सम्बन्धी एक नवीन प्रयोग करने में प्रवृत्त हो रहे हैं जो अनन्यतया सर्वथैव विश्वमान्य हो सकने का दावा कर सके, कारण ऐसी प्रत्येक सभ्यता कुछ व्यक्तियों के समूह की ही गुण-कर्मशक्तियों का अभिव्यञ्जन मात्र है। इस विषय में इतिहास की गवाही के सिवाय और कोई तर्क काम नहीं देता; और इतिहास किसी ऐसे मनुष्य को नहीं जानता जो सारभूत विश्वमानव हो और इसीलिये कोई ऐसी व्यष्टि-समूह-विशिष्ट सभ्यता सारे विश्व की

सभ्यता नहीं हो सकती। भावी सभ्यता को ऊपर उठ कर मानव और मानव जीवन का विचार विश्व की दृष्टि से करना होगा। भूत-कालीन और वर्त्तमानकालीन देश-विशिष्ट सभ्यताएँ मानव जाति के सच्चे स्वार्थों के प्रति सदा निष्ठावान् न रहीं। उनका सारा यत्न जातिगत, साम्प्रदायिक और राजनीतिक सर्वाधिकारों के लिये, स्त्रियों पर पुरुषों के और गरीबों अमीरों के प्रभुत्व के लिये था। हम लोग कोई ऐसी स्थायी सभ्यता निर्म्माण कर सकें जो समूची मानव जाति के लिये उपयुक्त हो इससे पहले यह आवश्यक है कि प्रत्येक ऐतिहासिक सभ्यता यह अच्छी तरह से हृदयंगम कर ले कि सारे विश्व की आदर्श सभ्यता बनने के लिये वह कितनी परिछिन्न और अयोग्य है।

यान्त्रिक आविष्कारों की यशःसम्पन्नता ने जैसी भावी सभ्यता के लिये एक समान आधार प्रदान किया है, वैसे ही विचार, विश्वास और आचार की परम्परागत पद्धतियों का टूट जाना भी आध्यात्मिक एकता के लिये आवश्यक सामग्री का ही जुट जाना हुआ है। उत्तेजना फैल गयी है सब प्रकार के लोगों में, विशेषकर नवयुवकों में जो दूसरों के हाथ के खिलौने नहीं बनना चाहते चाहे वे कितने ही वृद्ध या ज्ञानी हों। उनमें एक नवचैतन्य जाग उठा है, वे यह अनुभव कर रहे हैं कि अब

तक जिन भावों और भावनाओं को हम लोग पकड़े रहे उनमें कोई चीज अधूरी और असुविधाकर है, वे नये मान-परिमाणों की खोज में भटक रहे हैं। 'पुरानी चीजों को छोड़ो' की धुन समायी है। धर्म के पुराने रूप ढह रहे हैं। हर सम्प्रदाय और देश के विचारशील लोगों में आध्यात्मिक उत्सुकता और प्रतीक्षा का स्वर बज उठा है।

उन आततायियों को हम छोड़ दें जिनके साथ युक्ति से बात करना संभव नहीं तो प्रत्येक ऐतिहासिक सभ्यता के नेताओं को आज यह विश्वास हो गया है कि मानव जाति अपनी व्याप्ति के समूचे क्षेत्र और इतिहास के अन्दर एक ही समष्टि-शरीरधारी जीव है, अपनी वर्द्धमान महत्ता से बंध्र है और ऐसी उन्नति करने में समर्थ है जिसे परिसीमित करने का कोई भी साहस नहीं कर सकता। दान्ते ने उद्घोषित किया कि, "इस सभ्यता के लिये एक आदर्श नहीं है और न उस सभ्यता के लिये एक आदर्श है, पर सारी मानव जाति की सभ्यता के लिये एक ही आदर्श है।" पर सारी मानव जाति की सभ्यता के लिये एक आदर्श के होने का यह मतलब नहीं है कि सब लोग एक ही भाषा बोलेंगे या एक ही धर्म-सम्प्रदाय के मानने वाले होंगे; या यह कि सब लोग एक ही शासन के अधीन होंगे या सब के रस्म-ओ-रिवाजों का सदा के लिये एक-सा ही अटल नमूना बना

रहेगा। सभ्यता की एकता रूप की एकता में नहीं बल्कि परस्पर के सामञ्जस्य में देखनी होगी। प्रत्येक महती संस्कृति विभिन्न आदर्शों और स्वभावों के लोगों के मेल से उत्पन्न हुई है। मिश्र और बेबिलान, हिन्दुस्थान और चीन, यूनान और रोम इस सत्य के प्रमाण हैं। आज जो लोग सांस्कृतिक समन्वय के साधन में भाग ले रहे हैं उनका दायरा बहुत बड़ा है और उसमें कार्यतः सारा जगत् आ जाता है। भविष्य का विश्वास परस्पर सहयोग में है, एक रूप हो जाने में नहीं ; अपने मानव भाइयों को आश्रय देने में है, उनका अनुकरण करने में नहीं ; सहिष्णुता में है, निरंकुश स्वेच्छाचार में नहीं।

निषेधात्मक परिणाम

धर्म

धर्म विषयक परिस्थिति में इस समय बड़ी गड़बड़ी मची हुई है और इस विषय में क्या पूर्व और क्या पश्चिम दोनों ही तरफ के देशों का हाल एक सा ही है। विविध प्रकार के विज्ञान—मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, प्राणिविज्ञान, पशुविकास रूपमात्मकविज्ञान आदि सभी जगत्प्रसिद्ध धर्मों की ईश्वर सम्बन्धी पौराणिक भित्तियों को ढाहते जा रहे हैं। धर्म विषयक अनुभव के विभिन्न विवरणों से इसी लोक प्रचलित धारणा की पुष्टि होती जा रही है कि ईश्वर तो केवल मनुष्य के मन की एक छाया, मानव हृदय का एक स्वप्न है। बड़े बड़े धर्माचार्य और महापुरुष जो हमें परलोक की बातें बताया करते हैं उन्हें तो किसी उन्माद-चिकित्सालय में रखकर उनके दिमाग की परीक्षा करानी चाहिये। परंपरासे जो युक्तियां ईश्वर की सिद्धि के लिये अब तक बराबर दी जाया करती हैं उनसे आधुनिक बुद्धि का समाधान नहीं होता। यदि प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई कारण है तो ईश्वर

का भी कोई कारण होना चाहिये। ईश्वर यदि बिना किसी कारण के हो सकता है तो जगत् भी बिना किसी कारण के हो सकता है। ऐसा दोषपूर्ण जगत् किसी कुशल और समर्थ ईश्वर का कार्य नहीं हो सकता। इतिहास में ईश्वर की आत्मसत्ता का कोई साक्षी-प्रमाण नहीं है। एम० लोइसी कहते हैं, "इतिहास लेखक इतिहास से ईश्वर को नहीं हटाता बल्कि इतिहास में उसे कहीं कभी ईश्वर मिलता ही नहीं।" हम लोगों की जो यह लालसा है कि यह जगत् जैसा है उससे अधिक न्यायी हो और इसकी भूलें सुधर जायँ और आँसू पुछ जायँ, इससे यही जाहिर होता है कि इस जगत् में सर्वत्र अन्याय ही भरा हुआ है। ईश्वर की सत्ताका कोई ऐसा प्रत्यक्ष चिह्न नहीं दीख रहा है, कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिल रहा है जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि, "लीजिये, यहाँ या कहीं भी ईश्वर मौजूद है।" जब लोग उसकी सत्ताके चिह्न दिखाने को कह रहे हों तब ईश्वर का कुछ न बोलना अनीश्वरवादिता का सबसे प्रबल प्रमाण है। इन सब बातों के होते हुए भी यदि कुछ लोग दीनतावश ईश्वर का पल्ला पकड़े रहें तो आश्चर्य की तो क्या; पर दुःख की बात अवश्य है। उनका यह विश्वास उतना ही दुर्बल है जितना कि डूबते को तिनके का सहारा, फिर चाहे पौराणिक लोग, जिनकी वृत्ति ही वह है, जो भी कहा करें।

पुराणशास्त्रों ने जो ऐसी ऐसी बातें गढ़ रखी हैं, जैसे-भगवान को एकबार बोध हुआ तब उन्होंने अपने शत्रु से बदला लेने या उससे सौदा पटाने के लिये सारी मानव जाति को दुःख के अथाह और अचिन्त्य सागर में ढकेल दिया, पीछे जब उनका मिजाज कुछ ठंडा हुआ तब इस काल्पनिक अन्याय को दूर करने के लिये कृपापरवश हो उन्होंने कोई कृत्रिम उपाय ढूँढ़ निकाला, इतना सब प्रपञ्च महज इसलिये किया कि सृष्टि के आरम्भ में ही उन्होंने ऐसा सङ्कल्प किया था—यह सब क्या है, भोले-भाले मनुष्यों को ठगना है। ईश्वर सम्बन्धी ये बातें जगत् के बचपन की अद्भुत कहानियाँ हैं। पूर्वकाल के पाठ्यग्रन्थ वर्त्तमान्काल की समस्याओं को हल करने में कोई विशेष सहायता नहीं पहुँचा सकते। प्राचीन ग्रन्थों को आधुनिक आवश्यकताओं की सुविधाओं के अनुरूप लगाने का प्रयास करना पूर्वकाल के प्रति अपना आदर भाव व्यक्त करना हो सकता है, पर बौद्धिक सद्वर्त्तन नहीं। धर्म बच्चों कैसे कच्चे मनवाले मनुष्यों के लिये सेव्य हो सकता है, पर धीरवीर विचारशील पुरुषों का उससे कुछ भी काम नहीं। ईश्वर कहीं है नहीं और हम लोग एक ऐसी निष्ठुर हृदयहीन नियति के हाथ के यंत्रमात्र हैं जिसकी दृष्टि में न कोई पाप है न कोई पुण्य और जिसकी पकड़ से छूटने पर घोर अन्धकार ही सामने आता है।

कुछ ऐसे लोग भी हैं जो यह कहते हैं कि यद्यपि ईश्वर की सत्ता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो भी यह निश्चित रूप से तो ज्ञात नहीं हो सकता कि ईश्वर है ही नहीं। इसलिये अच्छा यही है कि न यह कहा जाय कि ईश्वर है न यह कहा जाय कि ईश्वर नहीं है। जो लोग धर्म के साथ इससे अधिक मित्रभाव से पेश आते हैं उन्हें ईश्वर को उसकी इस विपद् में असहाय छोड़ देना अच्छा नहीं लगता और वे अस्ति-नास्ति के इस 'संशय का लाभ' ईश्वर को दिलाते हैं। कट्टर अज्ञेयवादियों का जो सम्प्रदाय है उसका कहना यह है कि एक मर्त्य मनुष्य को यह कहने का ही कोई अधिकार नहीं है कि ईश्वर नहीं है, जब कि उसे यह पता नहीं कि ईश्वर कौन है या क्या चीज है। अज्ञेयवादी, अनीश्वरवाद और मूलवाद इन दो मतवादों के बीच रास्ते पर खड़ा है। उसमें इन दो पक्षोंमें से किसी के भी सदृश गभीर विश्वास नहीं है, वह इतना ही समझता है कि प्रश्न अपनी पहुँच के बाहर है।

कुछ लोग ईश्वरवाद की व्यावहारिक उपयोगिता को तो मानते हैं पर ईश्वरनिष्ठा या आत्म-साक्षात्कार के साधनस्वरूप धर्म उनके लिये निष्प्रयोजन है। हम लोगों को अपने बद्ध -आत्मा की मुक्ति की उतनी चिन्ता नहीं है जितनी कि जगत् के सुधार की। हम लोग जगत् के सुधार में धर्म से काम ले

सकते हैं क्योंकि इससे सामाजिक शांति और उन्नति में सहायता मिलती है।

प्रत्येक धर्मसम्प्रदाय के बहुसंख्यक लोग ऐसे ही होते हैं जो स्वयं सोचने का कष्ट नहीं उठाना चाहते और धर्म से मिलनेवाला आराम चाहते हैं और इसलिये अन्ध-श्रद्धा की शरण लेते हैं। उनकी आँखें भूतकाल की ओर फिरी रहती हैं और वे यह समझते हैं कि मानव जाति के अनुभवों का सारा संचित ज्ञान भूतकाल में ही निहित है। उनके विचार से, मृतात्मा ही यथार्थ में जीवित हैं और उन्हींको जीवितों पर शासन करना चाहिये। आत्म-मुक्ति पाने के प्रयासमें बहुतेरे आत्यन्तिक एकाकी भाव का आश्रय लेते हैं; दूसरे प्रकृति को ही आत्मसमर्पण कर देते हैं। कुछ ईश्वर के विषय में संशय और निषेध से संतुष्ट हैं। चारों ओर अव्यवस्था का ही साम्राज्य है।

कौटुम्बिक जीवन

कई ऐसे कारण हुए, जैसे पिछले युद्ध से उत्पन्न हुई सामाजिक विशृङ्खलता, ऐसी आर्थिक परिस्थितियाँ जिनसे वयस्क विवाहों का होना अधिक सुविधाजनक मालूम होने लगा;

अपने आपको प्रकट करने का मानव मनोवेग, पिता-माता के रोब-दाब का कम हो जाना, स्त्री-पुरुष सहवास सम्बन्धी शिक्षा का अधूरापन, फ्रायड का मनोविज्ञान, और सन्तति-निरोध के उपायों की वह जानकारी जिससे स्त्री-पुरुष सहवास के स्वाभाविक परिणामों का डर जाता रहा, इन सब कारणों से सामाजिक मर्यादा में बड़ी ढिलाई आ गयी। ठीक ही तो है कि पुरुषों के लिये जो विधान है उससे भिन्न प्रकार के विधान से बँधना अब स्त्रियों को मंजूर नहीं है। पुरुषों और स्त्रियों के स्वभावों में या उनके अन्तःकरणों में एक मौलिक भेद मान कर जो आदर्श प्राचीनकाल में सामने रखे गये उन्हें अब हटाया जा रहा है। पुरुषों ने स्त्रियों से सतीत्व (अखण्ड कौमार्य) का जो आदर्श स्वीकार करा लिया उसका प्रभाव बहुत कुछ नष्ट हो चुका है। पुरुष मनचले होते हैं तो स्त्रियाँ भी उनसे कम मनचली नहीं होतीं, उनमें भी कामभाव भरा होता है और वे भी एक सी ही स्थिति की अपेक्षा नयी चीज, नया खेल पसन्द करती हैं। वे हमसे उत्तम या अधम होना नहीं बल्कि हमारी स्थिरता और चंचलता दोनों में हमारी बराबरी का, बड़े जोरों के साथ, दावा करती हैं और इसमें उन्हें बहुत कुछ यश भी मिल रहा है। व्यभिचार पुरानी आदत है, इतनी पुरानी जितनी कि स्वयं मानव जाति, पर अब हम लोग

उसे आत्माभिव्यक्ति का नया नाम देकर समुचित करार दे रहे हैं। अच्छे उपन्यासों में असंयम प्रशंसित और बड़े लोगों में स्वीकृत होता है। [1] जो स्त्री आर्थिक विपत्ति के कारण "पाप" में प्रवृत्त होती है उससे शौकीन लोग कोई वास्ता नहीं रखना चाहते, क्योंकि वे उसकी लालसा से अपनी लालसा तो तृप्त करना चाहते हैं पर उसकी विवेक-बुद्धि को सुरक्षित

१, जज बेन० बी० लिंडसे जो २६ वर्ष से अधिक काल तक डनवर की, युवक-युवतियों के तथा पारिवारिक अपराधों की जाँच करने वाली अदालत के जज थे, अपनी "आधुनिक युवक-युवतियों का विद्रोह (The Revolt of Modern Youth") नामक चित्त को अस्थिर कर देने वाली, पुस्तक में यह बतलाते हैं कि १४ से १७ वर्ष तक की लड़कियों में प्रतिदशक एक लड़की व्यभिचारिणी देखी जाती है और ११ से २१ वर्ष तक की लड़कियों में सैकड़ावारी इससे भी कहीं अधिक है। जो भी युवक-युवतियाँ एक साथ पार्टियों में जाते, नाच में शामिल होते और मोटरों में बैठ कर हवा खाते हैं उनमें सैकड़े ९० से भी अधिक एक दूसरे का आलिङ्गन और चुम्बन करते हैं और कमसे कम सैकड़े ५० चुम्बन-आलिङ्गन से आरम्भ कर वहीं रुक नहीं जाते।" इनका तो यहाँ तक कहना है कि डनवर की जो यह हालत है, "युनाइटेड स्टेट्स के प्रत्येक शहर और कस्बे की हालत इससे भी खराब है;" पर हम सोचते हैं, हालत इतनी खराब न होगी, तस्वीर कुछ अधिक रंग गयी होगी।

रख कर। बहुतसी स्त्रियाँ सदा काम-ज्वर से पीड़ित होकर ही "पाप" नहीं करतीं बल्कि अधिकांश इस भाव से करती हैं कि विवाहिता स्त्री के कई प्रेमी हों, यह भी उसकी एक शोभा है। कुछ श्रेणियों के लोगों में सब स्त्री-पुरुषों का बिना किसी भेद के एक दूसरे से सहवास कर लेना धीरे धीरे एक सामाजिक कर्त्तव्य समझा जाने लगा है। सामाजिक नियम कुछ ऐसे हैं जो पुरुषों के अनुकूल और स्त्रियों के प्रतिकूल हैं, इससे बहुतसी स्त्रियाँ उनसे बँधना नहीं चाहतीं। ये नियम चाहे कितने ही ढीले, पक्षपात-पूर्ण, और इसलिये अन्याययुक्त हों, इन्हें ठुकरा देना बड़ा कठिन और खतरनाक होता है। बहुतेरी युवतियाँ जो तेज दिमाग और अप-टु-डेट फैशन वाली हैं, जिनकी संख्या दिन दिन बढ़ती जा रही है, आर्थिक स्वाधीनता और विवाह के बंधनों तथा मातृ-पद की जिम्मेदारियों से आजादी चाहती हैं। विवाह-विच्छेदों की संख्या-वृद्धि हो रही है और बच्चे माता-पिताओं के बीच में कभी इस तरफ और कभी उस तरफ घसीटे जाते हैं; माता-पिता का एक दूसरे से बात करना वकीलों के मार्फत होता है।

इस सम्बन्ध में चार प्रकार की मनोवृत्तियाँ सामने आती हैं। जो मूलवादी हैं वे परम्परागत शिष्टाचार के विचार फिर से उपस्थित करते और गंभीरता से यह कहते हैं कि बिना

प्रेम का विवाह यदि अन्त में दुःख देने वाला है तो बिना विवाह का प्रेम इस पृथ्वी पर प्रत्यक्ष नरक ही है। संस्कार-रहित विवाह प्रेम के द्वारा पवित्र होने पर भी पाप है, जब कि किसी प्रकार का संस्कार-युक्त विवाह, चाहे उसमें प्रेम का लेश भी न हो, पुण्य है।

सामाजिक आदर्शवादी यह बतलाते हैं कि बदलती हुई दुनिया के लिये कभी न बदलने वाला विधान एक असम्भव चीज है। आदर्शवाद के उच्च शिखरों पर दीर्घ काल तक बैठे रहना बिल्कुल बेकार है। यदि हम व्यवहार के क्षेत्र में आ जायँ तो हमें पता चलेगा कि आदर्श की ऊँची ऊँची बातों और व्यवहार की कठिनाइयों के बीच कितना अन्तर है। हमारी शिष्ट परम्परा के जो विचार हैं वे स्त्रियों की एक बहुत बड़ी संख्या को दाम्पत्य सुख के जीवन का सन्तोष नहीं दिला सकते। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन जैसे देश में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा बीस लाख अधिक है। धार्मिक जीवन पर से लोगों की श्रद्धा दिन दिन घटती जा रही है, अर्थात् कोई धार्मिक आश्रम स्त्रियों की इस अतिरिक्त संख्या को अपने अन्दर लिपा ले इसका सम्भावित अवसर भी कम होता जा रहा है। ऐसी अवस्था में यदि हम लोग एक पत्नी-व्रत के आदर्श को ही लिये बैठे हैं तो हम लोग कितनी कितनी स्त्रियों पर ऐसी

हालत लाद देते हैं जिसमें उन्हें ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करना पड़े। पर जबर्दस्ती का ब्रह्मचर्य कोई ब्रह्मचर्य नहीं है। जो स्त्रियाँ शिष्ट परम्परा की इस विधि-व्यवस्था की शिकार होती हैं वे अपने दाम्पत्य सुख की मनोवृत्ति को उजाड़ना नहीं चाहती हैं। कुछ तो ऐसी हालत में स्वभावतः ही वात-ग्रस्त हो जाती हैं, कारण उजड़ी हुई सुख-वेदना मनुष्य को दारुण क्लेश देती है। बहुतसी स्त्रियाँ जो विवाह करने में असमर्थ हैं, दाम्पत्य भाव को व्यक्त करने के अन्य उपाय ढूँढ़ निकालती हैं और वे जो कुछ असंयम करती हैं उससे हम लोग बरबस अपनी आँखें फेर लेते हैं। बहु-विवाह कानून से तो नाजायज है, पर व्यवहार में इसकी खूब चलती है। यह व्यावहारिक बहु-विवाह अशिष्टता, धोखेबाजी और बीमारी फैला कर लोगों को निकृष्ट बनाता है। फिर, युवक-युवतियों से ऐसी प्रतिज्ञा कराना कि हम दोनों एक दूसरे से कभी जुदा न होंगे, जब तक कि मृत्यु हमें जुदा न कर दे, कोई मतलब ही नहीं रखता। इस तरह सदा के लिये परस्पर का परस्पर को बाँध रखने का जहाँ कोई इकरार नहीं होता वहीं प्रेम रह सकता है। सामाजिक अशान्ति के प्रश्न को हल करने का एकमात्र उपाय "आजमायशी विवाह" ही देख पड़ता है।

संशयवादियों का यह विश्वास है कि हम लोग भूतकाल

को लौट नहीं सकते। पर वर्तमानकाल को देखकर उनके हृदय धँसे जाते हैं। जब वे देखते हैं कि किस प्रकार तलाक के मामलों की अदालतें परिवारों को तोड़ तोड़ कर एक एक आदमी को अलग कर नये नाते जोड़ने के लिये आजाद कर रही हैं और बच्चे जहाँ-तहाँ घसीटे जाकर ऐसे नये घरों में लाये जा रहे हैं जहाँ उनके लिये माता-पिता का कोई रोब-दाब नहीं, कोई अनुकरणीय उदाहरण नहीं, तब वे निराश हो जाते हैं। वे नहीं जानते कि इस हालत में क्या किया जा सकता है, और इस तरह वे अपने आपको भवितव्य के हवाले छोड़ देते हैं। वे लोग विपथगामी होते हैं, आगे नहीं बढ़ते, यही प्रतीक्षा करते हैं कि कुछ अपने आप हो जाय।

जो साहसिक हैं वे कहते हैं, जीवन ही जीवन का अन्त है। जो भीरु जीने से डरते हैं वे दया के पात्र हैं, क्योंकि जीवन के उमंग और आनन्द से वे वञ्चित रहते हैं। वे किसी प्रकार जीवन बिताने से ही सन्तुष्ट रहते हैं, खुली आँखों जीवन का सामना नहीं करते। बहादुरी के साथ "पाप" करके दुर्लभ आनन्द लूटना कोई दूसरी ही चीज है। काम आदि मनोविकार काम आदि मनोविकारों की तृप्ति के लिये ही हैं। शरीर के निर्दोष सुख आत्मा को गिराने या अपवित्र करनेवाले नहीं हैं। जिनके साथ हमारा बौद्धिक स्नेह है, आध्यात्मिक नाता

है उनके साथ शारीरिक सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास करने में कोई बुराई नहीं है। मनुष्य कुछ चीजों को सही और कुछ को गलत समझ सकता है, पर प्रकृति सब चीजों को ठीक ही समझती है। प्रकृतिवादात्मक अनीश्वरवाद की-सी मनोवृत्ति धारण कर ये लोग इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि जो यान्त्रिक शक्तियाँ कुछ समय के लिये एक सुष्ठु मानव शरीर के निर्म्माण में सम्मिलित हुई हैं वे किसी दिन उसी निष्ठुर भाव से अलग अलग हो जा सकती हैं जिस निष्ठुर भाव से वे एकत्र हुई हैं; इसलिये जब तक यह अवसर हाथ में है तब तक उससे लाभ उठा लेना चाहिये। यदि हम पूर्ण रूप से, सौन्दर्य के साथ, साहस के साथ जीना चाहते हैं तो हमें जीवन के इस प्याले को पीकर इसका पूरा स्वाद ले लेना चाहिये, इससे पहले कि मृत्यु इसे हमसे छीन ले। इस विचारश्रेणी के लोग अपनी भूख-प्यास को छिपा रखना शिष्टाचार का लक्षण नहीं मानते। दमन और छिपाव की कोई आवश्यकता नहीं है। जीवन एक साहसिक खेल है। शक्ति का उपयोग करना ही एक मात्र पुण्य है। जो लोग परम्परागत शिष्टाचार को सदाचार मानते हैं, उनका खून ठंडा है और वे समझ नहीं सकते कि दूसरों को कैसे उन चीजों से उत्तेजना मिलती है जिनकी ओर उनकी अपनी प्रकृति का कोई झुकाव नहीं होता। पूर्ण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

कि ये पुरस्कर्ता अपनी कामनाओं का जरासा भी दमन बर्दाश्त नहीं कर सकते और अपने स्वैर जीवनस्रोत में बाधा डालनेवाली हर चीज पर क्रुद्ध रहते हैं। नैतिक संयम को ये लोग पुराना ढकोसला और साधुता को कुसंस्कार कहकर उड़ा देते हैं। व्यभिचार इनकी आन्तरिक स्वतंत्रता का केवल बाह्य चिन्ह है। जो संस्थाएँ परंपरा से चली आती हैं वे, इनकी दृष्टि में, सबसे महान् जीवन शत्रु हैं और कोई नवीन उत्तम सामाजिक व्यवस्था बाँधने के पूर्व उन्हें उखाड़ फेंकना इनके लिये जरूरी है।

आर्थिक सम्बन्ध

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में कोई बाधा न डालने का सिद्धान्त धीरे धीरे हटता जा रहा है। समाज को एक ऐसा यन्त्र नहीं समझा जा सकता जो इजारदारों और प्रतिद्वन्द्विता की स्वतन्त्रता की शक्तियों के कार्य के द्वारा यों ही अपने आपको दुरुस्त कर ले। आर्थिक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य ने एक छोटी उच्च श्रेणी उत्पन्न कर दी है जिसका जीवन अनैतिक स्वाद-लोलुपता और विलासिता से भरा हुआ है; और दूसरी एक विशाल निम्न श्रेणी उत्पन्न की है जिसका जीवन दारिद्र्य और दुःख से भरा

हुआ है। यह कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसका निवारण न किया जा सके। यह विचार कि व्यक्ति और समाज दोनों को ढालनेवाली कोई ऐसी बाह्य अवस्थाएँ हैं जिन पर हम लोगों का कोई काबू नहीं, प्रायः सबको स्वीकार नहीं है।

मशीनों से यह आशा की गयी थी कि इनसे कठोर और नीरस यान्त्रिक परिश्रम से फुरसत मिलेगी और सांस्कृतिक तथा कलासम्बन्धी उद्योगों के लिये अधिक समय मिलेगा। इनसे मानव परिश्रम जरूर हलका हुआ है पर परिश्रम की नीरसता और कठोरता भी कुछ बढ़ी है। श्रमजीवियों के बारीक उप-भेदों के आधार पर खड़े आधुनिक उद्योग ने मजदूर से कारीगरी की बुद्धि छीन ली है। गूढ़ता, सौन्दर्य और श्रद्धा के लिये कल-कारखानों में कोई स्थान नहीं होता। कारीगर अधिकाधिक उत्पादन का हेतु सिद्ध करने के लिये यन्त्र पर काम करनेवाला एक मजदूर, महज एक यन्त्र बन गया है। एक ही ढंग का काम उसे रोज-रोज करना पड़ता है, उसमें कोई नयापन नहीं, इससे शरीर तो थक जाता है पर मन का बहलाव कुछ भी नहीं होता। कारीगरी के काम से बुद्धि और चरित्र का जो विकास होता है वह अब दूसरी जगहों में ढूँढ़ा जाता है। मजदूर जो काम करते हैं उसमें उन्हें कोई आनन्द नहीं मिलता, उसे अब वे अपने काम के बाहर कहीं ढूँढ़ते रहते हैं। वे अधिक मज-

दूरी चाहते हैं और शिक्षा, बौद्धिक उन्नति, दिलबहलाव और आत्मविहार के लिये अधिक अवकाश और अवसर माँगते हैं। लन्दन,[1] न्यूयार्क,[2] कलकत्ता[3] जैसे नगरों में रात और दिन ऐसे नये-नये मनोविनोद ढूँढ़ निकालने की कोशिश होती रहती है कि लोगों के लिये विश्राम के अवकाश का नाम ही न रह जाय और नित्य के जीवन की निष्प्राण रिक्तता से कुछ दिलासा मिल जाया करे।[4] विश्राम के अवसर का उपयोग अन्तःकरण की सात्विक वृत्तियों का सन्तोष-साधन करने में नहीं किया जाता; ये वृत्तियाँ मिहनत-मजदूरी करने में विपर्यस्त होती या दब जाती हैं। यह लाभ लाभकारी है या हानिकर, कैसे कहा जाय? कल-कारखानों के मजदूर गन्दी बस्तियों में रहते और अपने आत्माओं का वेश्यालयों और शुंडीखानों में नाश

1 The Times Square.

2 The Piccadilly Circus.

3 The Chowringhee.

४ विलियम आर्चर (William Archer) ठीक ही कहते हैं; "दुराचार थकावट से, रिक्तता और श्रान्ति के उस मनोभाव से जो खाली दिमाग पर आ विराजता, नीरस परिश्रम से निकम्मे बने हुए दिमाग पर चढ़ बैठता है, भाग कर पनाह पाने की एक जगह है।" ज्ञान और चरित्र (Knowledge and character.) पृ० ५, Moral Education League, London. 1916.

करते हैं। "जहाँ जिसका धन होता है वहीं उसका मन होता है।" यह बात वैयक्तिक विषय में जितनी सच है, उतनी ही सच समाजों के विषय में हैं। यदि हम यह जानना चाहते हों कि किसी व्यक्ति या समाज को कौनसी चीजें सर्वाधिक प्रिय हैं तो हमें इतना ही जान लेना होगा कि वह व्यक्ति या समाज अपनी फुरसत का समय किस तरह बिताता है। मानवी शक्तियों का आजकल जिस भयङ्कर रूप से अपव्यय हो रहा है उसे देखकर चित्त प्रसन्न नहीं होता। प्रत्येक धर्म यह बतलाता है कि कर्म, विश्राम और उपासन, ये तीन मनुष्य की मौलिक आवश्यकताएँ हैं। कर्म के द्वारा हमसे यह अपेक्षा की जाती है कि हम समान कर्मानुष्ठान में दूसरों के साथी होकर उन्हें जानेंगे और उन्हें सुखी बनाने में सहायक होंगे। विश्राम के द्वारा हमसे यह कहा जाता है कि हम विचार और स्वकर्म-विधान की स्वतन्त्रता के उस अवसर में अपने आपको जानें। उपासन के द्वारा हमें यह आशा मिलती है कि हम जगदात्मा को जानें और जगत् के हेतु को समझें। आज यह हाल है कि कर्म (उद्योग, परिश्रम) मनुष्य से मनुष्य को अलग करने और उसकी सामाजिक सहज भावनाओं को मार डालने का साधन बना है; विश्राम से मनःचक्षुओं को अन्धा करने का और उपासन से निम्नकोटि की चीजें स्वीकार कर आध्यात्मिक भावना का तार

मोटा, खुरखुरा बनाने का काम लिया जाता है। हम लोग अकेले रहना बर्दाश्त नहीं कर सकते। मिहनत-मजदूरी, आराम या इबादत, कहीं भी अकेले रहना वीरानसा लगता है। हमें काम करना होगा कल-कारखानों में, खुशी मनानी होगी भीड़-भाड़ में, जाना होगा पार्टियों में, पाप करना होगा संग-साथ में, उपासना करनी होगी बड़ी-बड़ी जमातों के बीच में। संध्याकाल शान्ति के साथ घर में रहना, शहर के बाहर गाँव-देहातों में घूमना, आत्मा को उन्नत करना, ध्यान लगाना यह सब हमें दुःसह भारसा लगता है। हम लोगों की यह वर्त्तमान पीढ़ी सचमुच ही अनिद्रामान् पीढ़ी है। विश्रांति समस्त कला, तत्त्वज्ञान, साहित्य और धर्म की वैसी ही जननी है जैसी कि आवश्यकता समस्त विज्ञान और आविष्कार की जननी है। आजकल की लटमार सभ्यता की अत्याचारिता अन्तःकरण की शान्त सात्विक वृत्तियों के कार्यों के लिये अवकाश ही नहीं मिलने देती। जिस शान्ति, निःसंगता और आत्मैकाग्रता के बिना सद्विचार का जारी रहना असम्भव है, उसकी तो यह बैरिन है। जानकारी जरूर खूब बढ़ी है, पर अक्ल नहीं बढ़ी।

इसके अतिरिक्त इस औद्योगिक युग ने हम लोगों को अर्थका पुजारी बना दिया है। हम लोगों के दिलों में यह विश्वास जम गया है कि धनी बनने से ही हम लोग जो चाहें कर सकते

हैं—सुई के छेद में से भी निकल जा सकते हैं। धन ही स्वर्ग-राज्य का परवाना है। धन मिल जाय, किसी साधन से, किसी मूल्य पर, बस यही हम लोगों का ध्येय बन गया है। समाज में बड़प्पन उसी को मिलता है जो भाग्य से अथवा अपने पुरुषार्थ से धनी बन जाय। औद्योगिक क्रान्ति होने के पूर्व सामाजिक पद-प्रतिष्ठा का विचार दूसरे ही मानदण्ड से किया जाता था। सन्त-महात्मा, विद्वान्, कवि और तत्त्वज्ञ समाज में सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे। किसी की सांसारिक परिस्थिति चाहे कैसी भी हो, यदि वह विद्या, बुद्धि, आत्मज्ञान अथवा योग में श्रेष्ठ है तो वह समाज का नेता बनने का अधिकारी होता था। वे दिन चले गये जब दरिद्रता निर्मल, नीरोग और स्वाभिमानी हो सकती थी। अब तो धनोपार्ज्जन ही संसार के प्रिय उद्योगों में एक प्रधान उद्योग है।

इस औद्योगिक अनुष्ठान का सबसे खराब परिणाम यह हुआ है कि इससे घर कोई चीज न रहा। अमेरिका में देखिये, रूस में देखिये। जहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य आर्थिक स्वतन्त्रता की इच्छा रखता है, वहाँ पारिवारिक बन्धन दृढ़ नहीं रह सकते। पुरुषों और स्त्रियों का भी काम घर के बाहर होता है, बच्चे भी जब घर पर सोये नहीं रहते तब स्कूल या कालेज में अपना काम करते हैं या फुटबाल के मैदान में अथवा

सिनेमा-हाल में मौज करते है। रूस के सम्बन्ध में ट्रोनकी[1] "जीवन की समस्याएँ" में क्या कहते है सुनिये—"युद्ध और राज्यक्रान्ति की प्रचण्ड घटनाएँ पुराने ढंग के परिवारों पर अपना पूरा असर डाल रही हैं।...अब आवश्यकता है और अधिक समाज-तन्त्रात्मक आर्थिक सुधारों की। इन्हीं अवस्थाओं में हम परिवारों को उन कामों और चिन्ताओं से मुक्त कर सकते है जिनसे वे अभी पीड़ित और विघटित हो रहे हैं। कपड़े धोने का काम किसी सार्वजनिक धोबीखाने के द्वारा, खान-पान का प्रबन्ध किसी सार्वजनिक भोजनालय के द्वारा, सिलाई का काम किसी सार्वजनिक दर्जीखाने के द्वारा किया जाना चाहिये। बच्चों को शिक्षा देने का काम ऐसे उत्तम सार्वजनिक शिक्षकों द्वारा होना चाहिये जिनकी इस काम में स्वाभाविक प्रवृत्ति हो। तब पति-पत्नी का सम्बन्ध प्रत्येक बाहरी और अकारण बन्धन से मुक्त हो जायगा और एक का जीवन दूसरे के जीवन को आत्मसात् न कर सकेगा।" मतलब यह कि न स्त्री का स्थान अपना घर होगा न पुरुष का।

औद्योगिक युग नये नये अभाव उत्पन्न किया करता है। ग्राहक जो कुछ ग्रहण करता है उससे उसकी भूख बढ़ती जाती है। और खाओ, और पाओ, यही सांपत्तिक उन्नति का रास्ता

1 Trotsky (In his Problems of Life)

है। इस उत्तेजक प्रतिद्वन्द्विता के द्वारा जीवन की उजड़ी हुई हालत को हम अपनी आँखों से छिपाये रहते हैं। हमारा यह यान्त्रिक युग सर्वसाधारण की सामान्य आवश्यकताओं के पदार्थ जुटाया करता है, व्यक्ति-विशेष के शौक की कोई परवा नहीं करता। कला की कोई पूछ नहीं होती।

राजनीति

प्रजातंत्र राज्यपद्धति के लिये यह बड़ा कठिन समय है। राजनीतिक प्रबन्ध के नाते यह पद्धति बहुत लोकप्रिय नहीं है। इटली और स्पेन में इसका अन्त हो गया है। रूस और चीन इसके बहुत अनुकूल नहीं देख पड़ते। पूर्वी यूरोप और दक्षिणी अमेरिका में भी जहाँ लोकसम्मत प्रातिनिधिक शासन का-सा एक ढाँचा मौजूद है, लोगों के मन इसके बारे में बहुत साशङ्क हैं। लार्ड ब्राइस ने स्विट्‌जरलैंड और स्कांडिनेविया जैसे छोटे देशों को छोड़कर अन्यत्र यथार्थ प्रजातंत्र के हो सकने में बहुत संदेह प्रकट किया है।

हम लोगों ने प्रजातंत्र का यह जानकर स्वागत किया कि इससे निरंकुश राजतंत्र से छुटकारा मिलेगा, पर जिस ढंग से प्रजातंत्र का काम हो रहा है उससे हम लोगों को सन्तोष नहीं है। हम लोगों के ध्यान में यह बात आने लगी है कि शासन

एक विशिष्ट कला है और इस कला में जो लोग कौशल प्राप्त कर चुके हैं वे ही शासक बन सकते हैं। प्रजातंत्र का काम जिस ढंग से हो रहा है उसमें यह संभव नहीं है कि देश का शासन उसके योग्यतम व्यक्तियों के हाथ में हो।

राजनीति में भी यह यान्त्रिक युग ही है। प्रजातंत्र के नाम पर कोई गुप्त मण्डली ही आड़ में छिपी रहकर राज्य का शासन करती है। निर्वाचित प्रतिनिधि जरा भी स्वतंत्र नहीं होते, न अपनी इच्छा-बुद्धि से कोई काम ही कर सकते हैं, क्योंकि वे एक बड़ी मशीन के महज पुर्जे होते हैं। सदस्य लोग जो वोट देते हैं वे उनकी अपनी अन्तस्थ धारणाओं से या परिषद् में होनेवाली बहस से अथवा उनके अपने निर्वाचक संघों के विचारों से भी प्रभावित हुए नहीं रहते। वाद-विवाद अयथार्थ होता है, तर्क अनावश्यक होते हैं, और प्रजातंत्र केवल एक नाम भर रहता है।

प्रजातंत्र के सामान्य परिणाम व्यक्ति-स्वातंत्र्य में साधक नहीं हुए। यूरोप और अमेरिका सर्वाधिक प्रजातंत्रवाले देश हैं, पर वहाँ वैयक्तिक जीवन का बहुत ही कम ख्याल किया जाता है। देश-स्वाधीनता का और उसका हाल यह है कि वहाँ मूलवाद[1], कू क्लक्स क्लान[2] और नार्डिक[3] जाति वालों के

1 मूलवाद (Fundamentalism) अमेरिका के प्रोटेस्टेण्ट

अन्य सब जातियों और संस्कृतियों पर आये दिन हमले होते ही रहते हैं। ऐसे ऐसे संघ वहाँ मौजूद हैं जो भिन्न मत रखने

शाखा वाले ईसाइयों का एक नवप्रवर्तित सम्प्रदाय है। यह धार्मिक आचार-विचार के विषय में आधुनिक बुद्धिवादियों का घोर विरोधी है। यह ईसाई धर्मग्रन्थों को मूल प्रमाण मानता है और इनमें लिखी बातों को अक्षरशः सत्य। ईसा कुमारी से उत्पन्न हुए, मरने के बाद ईसा ने फिर से अपना पाञ्चभौतिक शरीर धारण किया, इत्यादि बातों पर इस सम्प्रदाय का अटल विश्वास है। —अनुवादक

२ कू क्लक्स क्लान (Ku Klux Klan) अमेरिका की एक गुप्त राजनीतिक संस्था है। श्वेत जातियों का प्रभुत्व सुरक्षित रखना और बढ़ाना इसका ध्येय है। अमेरिका के गुलाम हबशियों को स्वतंत्र कर देने के मसले पर अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच जो पारस्परिक युद्ध हुआ उसके बाद इस गुप्त संस्था की स्थापना हुई। इसने हबशियों और उनके तरफदारों पर अपने जीवन में बड़े भीषण अत्याचार किये हैं। सन् १८७१ के कानून से इसके अत्याचार बहुत कुछ कम हो गये। पर अब भी इसका काम जारी है। —अनुवादक

३ नार्डिक (Nordic) नाम उत्तरी यूरोपमें रहने वालों का है, विशेषतः उन जातियों का जो स्कांडिनेविया, उत्तरी जर्मनी, स्काटलैंड और उत्तरी इंग्लैंड में बसती हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्यों में इन्हीं के वंशज बसते हैं। इनमें अपने प्रभुत्व का बड़ा अभिमान है। अन्य जातियों को ये अपने से हीन समझते हैं। —अनुवादक

वाले राजनीतिज्ञों को डराया-धमकाया करते हैं। सोवियट रूस में कोई मनुष्य अपने मन से चाहे जो काम नहीं कर सकता। यान्त्रिक निपुणता ही ध्येय होने के कारण प्रत्येक मनुष्य यन्त्र के किसी पुर्जे के स्थान में फिट किया जाता है, किसे किस जगह फिट करना होगा यह निश्चित करेंगे विरचल लोग, और उसे उसके लिये वैसी तालीम दी जायगी। कर्म की कोई स्वतंत्रता नहीं, विवेक-बुद्धि की कोई स्वतन्त्रता नहीं।

प्रजातंत्र के साथ अज्ञान, नियमानुवर्त्तन का अभाव और हीन रुचि, ये चीजें ऐसे मिल गयी हैं मानो प्रजातंत्र और ये चीजें एक ही चीज हैं। हमारे समाचारपत्र इसके साक्षी हैं। जिस प्रजातंत्र के लोग विवाह-विच्छेद और हत्याकाण्ड, नृत्य-भवन और पुलिसकोर्ट के मामले ही मुख्यतः पढ़ा करते हैं उनकी संस्कृति एक बहुत ऊपरी चीज है। शिक्षासम्बन्धी सुविधाएँ तो बहुतों की पहुँच के अन्दर हैं, पर संस्कृति का स्तर ऊँचा नहीं। कालेज में भरती होना अधिक आसान हुआ है, पर शिक्षित होना उतना ही अधिक कठिन। हम लोगों को पढ़ना सिखलाया जाता है, पर सोचना-समझना नहीं। धन्यवाद है लोकशिक्षा को, समाचारपत्रों, सिनेमा-फिल्मों और रेडियो को भी, जिन्होंने बिना ठीक तरह से समझे फ्रायड[1]

---

1 Freud.

के "मानस विश्लेषण" और जुँग[1] के "विश्लेषणात्मक मनो-विज्ञान" के कोई कोई अंश, मनुष्यों के विविध प्रकार के वर्तावों का जड़-प्रकृतिमूलक होना—यह निदान और गर्भाधान निरोध तथा ऐसी ही ऐसी अन्य इधर-उधर की ऊट-पटांग बातें लोगों के दिलों में, थोड़ी थोड़ी पर अच्छी तरह से जमा दी हैं। जो लोग इन विषयों को अधिक अच्छी तरह से जानते हैं, उन्हें इनके बारे में अपनी राय जाहिर करते डर लगता है पर वे भी सर्वसामान्य मनुष्यों की मनोभूमि के ही साथ चलते हैं। सर्वसाधारण जन-मन की उत्तेजना; बड़ी बड़ी जमातों का मनोवेग और विभिन्न श्रेणियों के मनुष्यों का परस्पर विरोध-विद्वेष, ये चीजें आ गयी हैं अधिकारिता और परम्परा की मर्यादा के स्थान में। जो समस्याएँ सामनें हैं उन्हें समझने का न तो हमें अवकाश है न योग्यता ही। जो तारतम्य दृष्टि से सब बातों को यथास्थान देख ठीक तरह से समझ सकते हैं उन्हें नेता मानकर उनके पीछे चलने को हम लोगों का जी नहीं चाहता। जनता के ही भाव का मुख्य ध्यान है, उसीकी राय मानी जाती है। एक तरह का ग्रेशम[2] का ही मनोमुद्रा के चलन का नियम यहाँ चल रहा

१ Jung.

२ सर टामस ग्रेशम (Sir Thoms Gresham) एक

है जिसके द्वारा उतावली और उत्तेजना से भरा हुआ कुमत अच्छे, सुविचार-युक्त सुमत को सामाजिक क्षेत्र से बराबर हटाता जा रहा है।

सभी प्रजातंत्र राज्यों में यह प्रवृत्ति देख पड़ती है कि सबके विचारों और विश्वासों को एक नाप से नाप कर एकसा बना दिया जाय। एकीकरण की ऐसी अवस्था में हमारे अन्तः-करण जड़-यन्त्रों की तरह काम करनेवाले बन जाते हैं। मन-बुद्धि को इस प्रकार जड़ यन्त्र बना देना नव-निर्माण के हौसले को मार डालना है। महत्तम निम्र्माण किसी विशिष्ट मार्ग के अनुरूप चिन्तन के फल नहीं होते, बल्कि उन मनुष्यों की अन्तर्भेदी दृष्टि, गम्भीर विचार और एकान्त ध्यान के फल होते हैं जो साधारण मनुष्यों की स्थिति से सदा ऊपर रहते

प्रख्यात अंगरेज अर्थ-व्यवस्थापक हुए। अर्थव्यवस्था-शास्त्र में उनके नाम पर (अर्थात् Greshams Law के नाम से) यह नियम प्रसिद्ध है कि जब दो तरह के सिक्के चलते हों जिनमें से एक की असली कीमत दूसरे की असली कीमत से अधिक हो पर कर्ज अदा करने के काम में दोनों की कीमत बराबर हो, तब असली कीमत जिस सिक्के की कम है वही चलन में आता और जिसकी अधिक है वह जमा किया जाने लगता है। ग्रेशम का यही अर्थ-शास्त्रीय नियम यहाँ मन के क्षेत्र में चल रहा है। —अनुवादक

हैं। यह कहना कुछ विसंगत-सा मालूम होता है पर है सही कि प्रजातंत्र अपनी कार्य-प्रणाली में प्रजातंत्र-विरोधी है। इसका केन्द्रस्थ हेतु व्यक्ति का आदर है। इब्सेन ने कहा था, "मनुष्य, तू वही हो जा जो तू है," पर हमारे प्रजातंत्र हमसे यह चाहते है कि हम लोग किसी ऐसे अल्पाधिक लोक-सम्मत मान को मानकर चलें कि हमारा आन्तरिक जीवन ही उजड़ जाने के खतरे में पड़ जाय। यदि हम सब के विचार एकसे होने लगें तो विचार में कोई उन्नति ही नहीं हो सकती।

जहाँ इतनी आर्थिक विषमता है वहां कोई राजनीतिक समता नहीं हो सकती। श्रमजीवी, सोशलिस्ट समाजवादी और कम्यूनिस्ट समाजवादी इस प्रयत्न में हैं कि राज्य और उसकी साधन-सामग्री पर अपना अधिकार जमा लें जिसमें सामाजिक जीवन की इससे अधिक अच्छी व्यवस्था बाँधी जा सके। इससे राष्ट्रीय सीमाएँ टूट रही हैं और श्रेणी-विद्वेष बढ़ता जा रहा है। स्वदेश का अभिमान पूँजीपतियों का एक भाव माना जाता है और यह बतलाया जाता है कि राष्ट्रीयता के सब कुसंस्कारों के बन्धनों से मजदूरों को छुड़ाना होगा। बोलशेविक कहा करते हैं कि, "मेरा देश मेरी श्रेणी है," और जब तक श्रेणियों के ये विद्वेष शान्त नहीं किये जाते तब तक कोई सच्चा प्रजातंत्र राज्य नहीं हो सकता।

किसी समाज का राजनीतिक जीवन उस समाज के अंगभूत स्वतंत्र बुद्धि और स्वतंत्र मन वाले पुरुषों की संख्या पर निर्भर करता है। विचार और आचार का मेल समाज के स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान व्यवस्था में यह संभव नहीं है। हमें मनुष्यों के काम-काज चलाने का कोई ऐसा मार्ग निकालने का यत्न करना होगा जो गुप्त रूप से वोट देने वाली इस व्यवस्था की पद्धति से अच्छा हो।

सार्वराष्ट्रीय सम्बन्ध

वर्तमान सार्वराष्ट्रीय परिस्थिति मानवता के किसी प्रेमी के हृदय को सुख देनेवाली नहीं है। राष्ट्र शान्ति का दम भरते और युद्ध की तैयारी करते हैं। वे मन के उस ढंग को छोड़ने के लिये तैयार नहीं जिसका फल युद्ध है। वे ईश्वर को अभी तक इसी बात के लिये धन्यवाद दिये जाते हैं कि हम लोग औरों से अच्छे हैं। उनकी यह धारणा है कि जिस जाति के हम लोग हैं वही जाति सब से शुद्ध और श्रेष्ठ है, जिस धर्म-सम्प्रदाय में हम लोग जन्मे वही जगदुद्धार का एकमात्र आशा-स्थल है और जिस राष्ट्र के हम लोग हैं वही मानव जाति का नेता है। दाई की गोद से ही राष्ट्रीयता का यह अहंभाव झण्डे हिला हिलाकर, बिगुल बजा बजाकर, देशभक्ति के गान

और विद्वेष के तराने गा गाकर बढ़ाया जाता है। पिछले युद्ध में प्रत्येक राष्ट्र का यही दावा था (और यह कह सकते हैं कि इस युद्ध में भी यही दावा है,—अनु०) कि अकेले हम ही सभ्यता की रक्षा के लिये लड़ रहे हैं। प्रत्येक राष्ट्र सभ्यता के नाम पर अपने प्रत्येक कार्य का समर्थन करता और प्रत्येक अन्याय, संहार और विध्वंस को क्षम्य मानता था। कोई मनुष्य अपने आपको जानवर बना ले और अपने मानव भाई को मारने के लिये उस पर उसी खूँखारी और खूँरेजी के साथ टूट पड़े जैसे कोई शिकारी कुत्ता सियार का पीछा कर उसे मार डालता है, यह मनुष्य के लिये तभी सम्भव है जब इससे पहले वह अपनी ऊँची मनोवृत्तियों को विद्वेष की आग और विजय-लालसा की लौ में जलाकर खाक कर डाले। सच्ची-झूठी और बिलकुल झूठी बातों का बड़ी चतुराई से प्रचार कर और बार-बार अन्य राष्ट्रों और उनकी संस्कृतियों के विरुद्ध मिथ्या प्रवाद फैलाकर लोगों को उत्तेजित किया जाता और जंगली जानवर बनाया जाता है। सड़कों पर व्याख्यान देते फिरनेवाले कोई कोई वक्ता किस्से-कहानियों और देखी-सुनी घटनाओं का वैसी ही चतुराई और वैसे ही उद्देश्य के साथ प्रयोग करते हैं जैसे एण्टनी[1] ने सीजर की हत्या पर उसकी लाश पर से खून से रँगे

---

[1] मार्कस एण्टनी (Marksh Antoni) सीजर के

कफन को उठाकर अपने अन्त्येष्टि भाषण द्वारा उस हत्या का किया था। "अरे दर्दनाक नजारे! हे निर्दय रक्त-रञ्जित हृदय! बदला ले! जला दे! आग लगा दे! मार डाल! खून कर!" ऐसे ऐसे उत्तेजना भरे शब्दों से जनता को भड़काकर एन्टनी ने अपना काम बना लिया। जर्मनी के कवि और पत्रकार हेनी बड़ी जबर्दस्त युद्धप्रिय प्रकृति के क्रान्तिवादी पुरुष थे। एक अवसर पर ये अपने छोटे बच्चे को सैनिकों के कवायद-प्रदर्शन का समारोह दिखाने के लिये ले गये। उस समारोह को देख कर बच्चे के मुँह से क्या ही सच्ची बात निकली कि, "ये सिपाही किसी समय मनुष्य थे।" अब वे स्वेच्छाहीन, हृदयहीन और आशाहीन हैं, एक यन्त्र के दाँत हैं, उसी यन्त्र के सामने सीस नवाना इन्हें सिखलाया गया है और उसी की अब वे

जमाने में उनके एक प्रभावशाली साथी और कई प्रान्तों के सूबेदार थे। इनकी बड़ी जबर्दस्त लालसा स्वयं इटली के विधाता बनने की थी। सीजर को जब ब्रूटस आदि कुछ षड्यन्त्रकारियों ने मार डाला तब इन्हें अपनी लालसा पूरी करने का एक मौका मिला। पर सीजर के उन हत्याकारियों के रहते उसका मार्ग निष्कंटक नहीं था। इसलिये उसने सीजर की लाश दिखा दिखा कर अन्त्येष्टि समय के अपने भाषण द्वारा लोगों को ऐसा भड़काया कि उन हत्याकारियों को अपनी जानें लेकर वहाँ से भागना पड़ा। —अनुवादक

अल्प या अधिक स्वेच्छा से पूजा किया करेंगे। विचारशील मनुष्य स्वेच्छाहीन दास बनाये जाते हैं। जब युद्ध का बिगुल बजता है तब सभ्यता के सारे दिखाव नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य अवश हो फिर से घूमकर पशु बन जाता है। युद्ध खेतों को उजाड़ता, नगरों को बरबाद करता, लाखों को मार डालता, उनसे भी अधिक संख्या में लोगों को पंगु और जखमी बनाता, स्त्रियों के दिलों को तोड़ता, उन्हें भ्रष्ट करता, उनके बच्चों को अपनी सहज रक्षा से छीनकर भूखों मारता, घृणा फैलाता, और झूठ एवं छल-कपट का वातावरण उत्पन्न करता है; युद्ध क्या है मानव भाव मात्र पर बलात्कार है। जब तक इस पैशाचिक नृत्य से हमें घृणा नहीं हो जाती तब तक हम अपने आपको सभ्य कहने के अधिकारी नहीं है। पशुओं के साथ होने वाली क्रूरता को रोकना, बीमारों के लिये असपताल और गरीबों के लिये आश्रय-गृह बनाना बिलकुल बेकार है जब तक कि हम लोग मशीनगनों से मनुष्यों के समुदायों को मारने और असैनिक जनता पर जहरीली गैस छोड़ने को खुशी से तैयार हैं! हमारे इस संहारकृत्य के शिकार होने वालों में बूढ़े, अपाहिज, स्त्रियाँ और बच्चे भी होते हैं, पर इसकी भी हमें कोई परवा नहीं!—और यह सब किसलिये? ईश्वर की महिमा और राष्ट्र की सम्मान-रक्षा के लिये!

यह बिलकुल सच है कि हम लोग, चूँकि युद्ध का दमन नहीं कर सकते, उसका नियमन करने का प्रयत्न करते हैं; पर यह प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। कारण, युद्ध परस्पर विरोधी राष्ट्रों के बीच उसी शत्रुता को लक्षित कराता है जिसका फैसला भौतिक बल के द्वारा किया जाने को होता है। जब हम परस्पर विरोध के दमन के लिये भौतिक बल को ही एक मात्र सम्बल जानकर उसका उपयोग करने पर उतारू होते हैं तब हम इस बात की तमीज नहीं कर सकते कि एक प्रकार के बल से दूसरे प्रकार के बल का क्या भेद है। हमारे पास बल के जो जो साधन होंगे उन सबको जुटाकर हम विरोध का दमन करेंगे, यही धुन सिर पर सवार रहती है। लाठी और तलवार या बारूद और जहरीली गैस में कोई वास्तविक भेद नहीं रह जाता। जब तक विरोध के दमन की यही रीति मान्य है तब तक प्रत्येक राष्ट्र अपने संहारात्मक अस्त्र-शस्त्रों को तेज ही करने का प्रयत्न करता रहेगा। राष्ट्रों का एक मात्र विधान युद्ध है और उस युद्ध में विजय लाभ करना ही एक मात्र सत्कर्म। प्रत्येक राष्ट्र को इसी भयानक और सत्यानाशी मार्ग पर चलना है। युद्ध का समर्थन करना पर उसके ढंगों की निन्दा करना, किसी ने ठीक ही कहा है कि, वैसा ही है जैसा कि भेड़िये का मेमने को खा जाना उचित पर उसके खाने का

तरीका अनुचित बतलाना है। युद्ध तो युद्ध ही है, दिल बह-लाने का कोई खेल नहीं जो उस खेल के बँधे नियमों के अनुसार ही खेला जाय।

यह सच है कि सार्वराष्ट्रीय भाव बढ़ रहा है। अर्थ-शास्त्री यह चेता रहे हैं कि युद्ध नफे का व्यवसाय नहीं। यह घाटे का सौदा है। हममें से कुछ लोग नीति के तौर पर शान्तिवादी बनते जा रहे हैं यद्यपि शान्ति के मार्ग का वे भरोसा नहीं करते। सार्वराष्ट्रीय भाव अभी बहुत ऊपरी है। पिछले युद्ध में उन थोड़ेसे मनुष्यों को छोड़कर जो वीरता के साथ अपने सिद्धान्तों पर डटे रहे, बाकी सबने मानवता को अपने देश की बलिवेदी पर चढ़ा दिया। गिर्जाघरों के बड़े बड़े पदाधिकारी पादरी भी मेफिस्टोफेलिस नाम के उसी असुर के ही सम्प्रदायवाले निकले "जिसने ईश्वर के लिये एक प्रार्थना-मन्दिर बनवाया और फिर उसी ईश्वर के आदेश की हंसी उड़ायी।" प्रार्थना-मन्दिर (गिर्जाघर) रंगरूट-भरती के अड्डे बन गये। लड़नेवाले राष्ट्र चारों ओर से ईश्वर को घेरकर ऐसी ऐसी प्रार्थनाएँ करने लगे कि वह सर्वशक्तिमान् भी घबड़ा गया होगा। देखनेवालों के मन पर इन सब बातों का क्या प्रभाव पड़ा वह जे. सी. स्कायर की एक चतुष्पदी[1] में बड़े अच्छे ढंग से प्रकट हुआ है ; —

---

१. चतुष्पदी, पं० गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर द्वारा अनूदित।—अनुवादक

शस्त्रास्त्रों से सज राष्ट्र सब व्यूह बाँधि चिल्लावें।
"हे करुणाकर! राष्ट्र बचा लो, दीर्घ आयु नृप पावें॥
"प्रभु! यह करु, वह करु, अरु करिये जो कुछ काम कहीं है।"
"नियत कर्म में रत हूँ" बोले प्रभु "अब वक्त नहीं है॥"

हाँ, हम लोगों का एक राष्ट्रसंघ है, पर वह केवल एक यान्त्रिक ढाँचा है। अभी तक उसके शरीर में आत्मा का अंकुर नहीं उपजा। परस्पर द्वेष और अविश्वास का बाजार बहुत गरम है। सार्वराष्ट्रीयता केवल थोड़ेसे लोगों के हृदय का एक भाव है, मानव मन का कोई अंश नहीं। अगस्त सन् १९१४ में आकाश जितना मलिन था, आज इतने बरसों बाद वह उससे कम मलिन नहीं है।[1] उस युद्ध से पहले जितने मनुष्य अस्त्र-शस्त्रों से लैस थे, उससे आज लाखों की संख्या में कहीं अधिक हैं। कोई राष्ट्र लोगों के आत्मा के सामने अपनी श्रेष्ठता और जगदुद्धार का भार वहन करने की अहंमन्यता को झुकाने को तैयार नहीं है। ये ही वे चीजें हैं जिनसे युद्ध हुआ करते हैं। प्रत्येक राष्ट्र यही कहता है कि "हम

---

१ यह मलिनता तबसे बराबर बढ़ती ही गयी है। उसीसे सितम्बर सन् १९३९ में फिरसे विश्वव्यापी महायुद्ध आरम्भ हो गया। इसकी मलिनता और विकरालता उस महायुद्ध से भी कहीं अधिक भयंकर है।

—अनुवादक

ही हैं जो कुछ हैं" और देशभक्त वही है जो प्रेसिडेंट थिओडोर रूजवेल्ट की इस उक्ति का अनुसरण करता है कि, "जो कोई नागरिक किसी दूसरे देश की वही भक्ति करता है जिस भक्ति पर केवल उसके अपने ही देश का अधिकार है, किसी अन्य देश का नहीं, वह उतना ही अभद्र और निन्दनीय है जितना कि वह मनुष्य जो पराई स्त्री से वही प्रेम करता है जिसपर उसकी अपनी स्त्री का ही एकमात्र अधिकार है।" राष्ट्रों के अन्दर भरी हुई दूसरों के प्रति घृणा और अपने अहंकार की वृद्धि के भाव जब तक मौजूद हैं तब तक थोड़े समय के लिये युद्ध रुक सकते हैं पर स्थायी सन्धि या शान्ति कभी नहीं हो सकती। यूरोप के कौटिल्य, मैचिएवेली की कूटनीति के सूत्र राज्यों की नीति निर्द्धारित कर रहे हैं और राष्ट्र निकल पड़े हैं अपने ही स्वार्थमय प्रभुत्व का विस्तार करने के लिये, निःस्वार्थ सहयोग के लिये नहीं।

समस्या

तत्त्वज्ञान अपने व्यापक अर्थ में वह अनदेखी नींव है जिसपर सभ्यता का ढाँचा खड़ा है। यह वह आत्मा है जो अपने लिये धीरे धीरे एक शरीर बना लेता है। किसी समाज की सुगठित प्रथाएँ और संस्थाएँ उस समाज के पृथक व्यक्तियों को किसी चीज को अच्छा या बुरा समझने में, उसका मूल्य आँकने में, उस समाज की विचार-पद्धति क्या है, यह समाज इस जीवन को क्या समझता है और इसका क्या अभिप्राय है यह समझने में सहायता पहुँचाती है। जब हम किसी सभ्यता को अच्छा या बुरा बतलाते हैं तब हमारे सामने यही मूल्य आँकने की तारतम्य-दृष्टि ही होती है।

प्राचीन हिन्दू तत्त्वज्ञान और यूनानी दर्शनशास्त्र इस विषय में एक दूसरे से सहमत हैं कि मानव व्यक्ति विश्व की एक प्रतिमूर्ति है। मनुष्य के एक शरीर है जिसका खनिज पदार्थों की तरह वजन और नाप होता है, वनस्पतियों की तरह शारीरिक संघटन होता है, पशुओं की तरह ज्ञानेन्द्रिय

और कर्मेन्द्रिय व्यापार होते हैं, और इनके अलावा बुद्धि और आध्यात्मिक सदिच्छा होती है। व्यापक दृष्टि से मानव आत्मा शरीर, अन्तःकरण और आत्मचैतन्य की त्रिमूर्ति है। हमारा भौतिक जीवन, जो वनमानुष के जीवन से बहुत भिन्न नहीं है, हमारी पाशव और वानस्पत्य पूर्व-परम्परा की साक्ष्य देता है। प्रोफेसर इलियट स्मिथ कहते हैं कि, मनुष्य के मस्तिष्क में कोई ऐसी बनावट नहीं दीख पड़ती जो वनमानुष के मास्तिष्क से भिन्न हो। हमारे कुछ मनोभाव भी जैसे हमारा स्वभावगत आलस्य, बढ़ने-फलने-फूलने की ओर हमारी सहज प्रवृत्ति, भूमि से चिपके रहने का हमारा स्वभाव, और क्रोध, भय आदि मनोविकारों से हमारा विवश होना, ये सब पशु जाति के साथ हमारा नाता सूचित करते हैं। अलख को लखने की हमारी लालसा, हमारी आध्यात्मिक अभीप्सा और साहसिकता, अपने आपको उन्नत करने में हमारा प्रयत्न, ये भी हमारे जीवन के वास्तविक अङ्ग हैं और इन्हींसे हमारे पुराणों, दर्शनों, धर्मों और कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। मानव जाति के समूचे विकासक्रम में हमारी आध्यात्मिक लालसाएँ हमारे साथ सदा से चली आई हैं और ये अन्ध-विश्वास, भौतिक देववाद और किस्से-कहानियों की स्थूल अवस्थाओं से लेकर आज की विशुद्ध और जटिल दार्शनिक पद्धतियों

और नैतिक संस्कृतियों तक नाना रूपों में प्रकट होती रही है।

यद्यपि हमारे अन्दर ऐसी भी कई चीजें हैं जिन्हें हम पाशव-पूर्व-परम्परा से मिली हुई वसीयत कह सकते हैं तथापि मनुष्य के नाते मनुष्य पशु से भिन्न है। हमारे गुण और दोष विशिष्ट रूप से मानव गुण-दोष हैं। जब हम इन्द्रिय-ग्राह्य सुख को जीवन में अपना उद्देश्य बनाते हैं तब यह कहा जाता है कि हम मानव की अपेक्षा पशु बन गये, पर कोई पशु इन्द्रियग्राह्य सुख के जीवन का कोई ध्येय नहीं कल्पित कर सकता, न उसके लिये कोई वैसा उद्योग कर सकता है जैसा कि मनुष्य कर सकता है। फिर, बहुतसी ऐसी भी बातें हैं जिनमें पशु मनुष्य की अपेक्षा अधिक भद्र होते हैं। बहुतसी चीजें ऐसी हैं जो पशुओं के लिये स्वाभाविक हैं पर मनुष्यों को प्रयास और नियम-साधन द्वारा उपार्जित करनी पड़ती हैं। पशु जननेन्द्रिय से जनन-कर्म का ही काम लेते हैं, इस विषय में पशुओं का नियम बड़ा पक्का है। ऐसा ही बहुत कुछ जङ्गली और आदिम जातियों का है। विचार करने तथा चाहे जो पसन्द कर लेने की जो शक्ति हम लोगों को प्राप्त है उससे हम लोग चाहें तो पशुओं से मिली हुई वसीयत से ऊपर उठकर उन्नति के उच्चतम शिखरों तक पहुँच सकते हैं अथवा अवनति

के गहरे गर्त्तों में जा गिर सकते हैं। अतः हम लोग जब मनुष्यों के पशुवत् हो जाने की बात कहते हैं तब वह एक आलंकारिक प्रयोग यही ध्वनित करने के लिये होता है कि जो चीजें मनुष्य और पशु दोनों के लिये समान हैं उन्हींके साधन में हम अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर रहे हैं।

हमारे अन्दर जो पशु-भाव है वह सतत अपने आप को पूर्ण करने में प्रयत्नशील है। जब सारे मनोविकार परितृप्त होते हैं तब हमारे पाशव जीवन की पूर्ण परिणति हमारी पाशव प्रकृति की पूर्ण सिद्धि होती है। यदि हम मानव आत्मा को शरीर के साथ और जीवनोद्देश्य को भौतिक वृद्धि के साथ मिला देते हैं तो हमें बर्बर या जङ्गली कहा जाता है क्योंकि हम पाशविक बल और सामर्थ्य की पूजा करते और पाशविक मनोवेगों को परितृप्त करना जीवन का ध्येय बनाते हैं। भौतिक बल-पराक्रम का प्रभुत्व और विस्तार बर्बरता का विशिष्ट चिह्न है। ऐसे समाज में पुरुष स्त्रियों को तुच्छ समझते और उनसे अपना मतलब निकालते हैं, और स्त्रियाँ भी पाशविक बल की इज्जत करती और उसीका सङ्ग करती हैं और उन्हीं पुरुषों को पसन्द करती हैं जिनका वीरता और युद्ध-कुशलता में नाम होता है।

जो समाज प्राण और शरीर की अपेक्षा अन्तःकरण को अधिक महत्त्व प्रदान करता है वह अधिक उन्नत है। पर

अन्तःकरण का अर्थ और अधिक व्यापक लेना होगा जिसमें सौन्दर्यसाधक कलाओं की वृद्धि और नैतिक पूर्णता भी सम्मिलित समझी जायँ, अन्तःकरण को आत्मभाव के साथ एक समझा जाय; जब तक ऐसा नहीं समझा जाता तब तक सभ्यता के ध्येय तक हम नहीं पहुँच पाते। हमारी जानकारी बढ़ी हुई हो सकती है पर उसका उपयोग उच्चतर आध्यात्मिक साध्यों के साधन में नहीं बल्कि प्राण और शरीर की तृप्ति के साधन में होता है। हमारा जीवन कामनामय हो गया है—हम चाहते हैं, हमारे उन सब अभावों की पूर्ति हो जिनकी संख्या निरन्तर बढ़ती ही रहती है; हम चाहते हैं अपने मातहत देशों को बढ़ाना और अधिकृत सम्पत्तियों का विस्तार करना। जिस तरह का मानसिक जीवन अभी है वह बहुत ही नीचे स्तर का है। भावुक कम्प और पुलक, बौद्धिक हलचलें, सुन्दर दृश्य-निरीक्षण और मानसिक उत्तेजन हमें अपनी ओर खींचते हैं, पर किसी महान् साहित्य और उदात्त कला का कोई गम्भीर आकलन नहीं। चलतू ढंग के उपन्यास, जासूसी किस्से, शब्द-बुझौवल हमें ललचाते-बहलाते हैं। इस दूसरे स्तर के समाज का मनुष्य अपने सोचने-समझने का काम आप नहीं करता, बल्कि बिना समझे समाज की रूढियों का पालन किये चलता है। उसकी नैतिक प्रकृति कच्ची और अविकसित होती है। उसमें राग और

द्वेष, कुसंस्कार और कुग्रह भरे होते हैं। वह केवल परंपरागत नियमों को मान लेता और उसीके अनुसार अपना जीवन बनाता है। आराम और दिखाव के सिवा जीवन का और कोई मान उसके सामने नहीं होता। शिक्षा का मूल्य उसकी दृष्टि में इतना ही है कि उससे प्रतिद्वन्द्वात्मक आर्थिक संग्राम में यशस्वी हो सकने की योग्यता मिलती है, और विज्ञान को वह इसीलिये सम्मान देता है कि उससे उपयोगी ज्ञान, सुख के साधन और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, उसमें संघटन और अधिक उत्पादन के लिये आवश्यक यन्त्र-सामग्री निम्माण करने की शक्ति है। बाहरी सम्पत्ति का अर्ज्जन, अवश्य ही, भीतरी सम्पत्ति का कारण नहीं होता। हम लोगों के युद्ध अभी होते ही हैं वे अब बाहु-युद्ध नहीं होते; मशीनों के युद्ध होते हैं। हम लोग एक दूसरे के भाई-भाई तो क्या, एक दूसरे के शिकार के जानवर हैं, और जब तक हमारी स्वार्थपरता का नियन्त्रण नहीं किया जाता है तब तक हम लोग पहले से भी अधिक भया-नक हैं, क्योंकि लोगों को दुःख देने की शक्ति हम लोगों की पहले से हजारगुनी बढ़ गयी है। रूढियों के दास होने के कारण हम लोगों का हृदय दासत्वमय हो गया है। जब कोई जनसमूह अपने मत को एकमात्र धर्म मानता अथवा अपनी संस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ समझता है तब उस समूह के घटक

मनुष्य उनके लिये लड़ने को तैयार हो जाते हैं। भौतिक बल का भरोसा ही सबसे पहला धर्म है, यही धर्म के नाम पर किये गये अत्याचारों के इतिहास से प्रमाणित है। यदि किसी ऐसे समाज में कुछ लोग सामान्य मनुष्यों के स्तर से ऊपर उठते और यह सोचते हैं कि मानव जाति का परम ध्येय एक ऐसा विश्व-कुटुम्ब निम्माण करना जो जगत् के एकमेव प्रेममय भगवान् की सत्ता का निदर्शन हो तथा मनुष्यों को इस प्रकार वशीभूत कर लेना है कि वे स्वेच्छा से ही सबके हित की कामना करें और स्वयं ही सोचें कि भौतिक बल का यहाँ कुछ काम नहीं, तो ऐसे लोग बागी और नास्तिक समझे जाते हैं, और समाज तुरत-फुरत उनका फैसला कर डालता है। उनमें जो भीरु होते हैं उन्हें डराकर रास्ते पर लाया जाता है, और जो न माननेवाले होते हैं उन्हें खतम किया जाता है। समाज की यह अवस्था आर्थिक या बौद्धिक बर्बरता की अवस्था है, कारण ऐसा समाज सभ्यता और अपने सुख-भोग को, सदाचार और रूढ़ि को, धर्म और बँधी-बँधायी जीवन-चर्या को, तथा राजनीति और व्यापार को, शोषण और नये नये बाजार खोलने को एक ही चीज समझता है।

जो समाज प्राण और शरीर, भौतिक और साम्पत्तिक अस्तित्व, विज्ञान और शिल्पज्ञान-सम्बन्धी पटुता को ही प्रायः

लिये रहता और अन्तःकरण और आत्मा के उच्चतर मानव ध्येयों का कुछ ध्यान नहीं रखता वह समाज यथार्थ में सभ्य नहीं है। शरीर, अन्तःकरण और आत्मा एक ही अविच्छेद्य वस्तु के विशिष्ट पहलू हैं। मानव प्रकृति एक ही अविभाज्य उपादान से बनी है, और इन तीनों का एकीकरण ही सभ्यता का सच्चा ध्येय है। इन विभिन्न अंशों के परस्पर विरोध और संघर्ष दुःख से मान लेने की चीजें नहीं हैं बल्कि इन्हें जीतना होगा और जीतकर इन अंगों को सुव्यवस्थित करना होगा। शरीर की उत्कृष्टता, उसकी सुस्थता और आरोग्य, पूर्ण मनुष्यत्व के लिये आवश्यक हैं; पर्याप्त रूप से सामाजिक और आर्थिक संघटन उत्तम जीवन के लिये आवश्यक हैं, पर ये स्वयं ही परम ध्येय नहीं हैं। संसार ने ऐसे मनुष्यों को उत्पन्न करने के लिये बहुत क्लेश सहे और कठोर परिश्रम किये हैं जो "सत्यं शिवं सुन्दरं" को पूजते हैं और घिसकर साफ किये हुए चमचमाते पशुत्व से जिन्हें सन्तोष नहीं होता। एक वैयक्तिक अहंभाव होता है जो अपनी रक्षा और अपनी बात की पाश-विक मनोवृत्तियों से परिचालित होता और अति अनुदार होकर स्वार्थ में रत रहता है, एक उदार विश्वभाव होता है जो आत्म-सन्तुष्ट, सर्वथा निःस्वार्थ और सबके हित-साधन में तत्पर रहता है; इन दोनों के बीच जो फासला है वही अर्द्ध-

सभ्य और असभ्य के बीच का अन्तर है। वैयक्तिक भाव स्वरूप विश्वात्मक दृष्टि से शुद्ध हो जाय और हमारा दैनिक जीवन जगत् के नित्य संकल्प के साथ जुड़ जाय; ऐसा होना वास्तविक मनुष्य बनना है। इसके लिये बड़ी कीमत देनी पड़ती है; पर जब हमारी सारी प्रकृति इस विश्वात्मक ध्येय की ओर लग जाती है तब इस युद्ध में जुटना आसान होता है और जीतना हलका। एक नये प्रकार का जीवन, एक नवीन चैतन्य का जीवनक्रम आरंभ होता है। वह हमारे वर्त्तमान जीवन से उतना ही भिन्न है जितना कि पाशव जीवन और चैतन्य से मानव जीवन और चैतन्य भिन्न है।[1]

मनुष्य जाति के इतिहास में पूर्ण बर्बरता अथवा पूर्ण सभ्यता का दृष्टान्त नहीं है। कोई समाज सर्वथा बर्बर अथवा सर्वथा सभ्य नहीं है। कोई ऐसा समाज नहीं दीख पड़ता जिसने अपना शिष्टाचार, धार्मिक विधि-विधान और अपने

---

1 यदि हम हिन्दू शास्त्रों की परिभाषा का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि जो समाज भौतिक बल को अपना ध्येय बनाता है वह तामस है, जो कामना को (आनन्द, शारीरिक और आर्थिक कामनाओं की तृप्ति को) अपने जीवन में प्रधानता देता है वह राजस है और जो आध्यात्मिक स्वाधीनता और शांति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है वह सात्त्विक है।

सामाजिक रूप विकसित न किये हों। किसी ऐसी जाति का कोई चिह्न मिलना कठिन है जो सत्-असत् का विवेक न रखती हो, सदाचार और कला का प्राथमिक रूप भी जिसने न देखा हो। मालूम यह होता है कि सभ्यता उतनी ही पुरानी है जितनी कि वर्बरता। हम लोग अमेरिका के एसकिमो और रेड इण्डियनों को तथा वसूटो और फिजी टापुओं के आदिम निवासियों को वर्बर समझते हैं, सिर्फ इसलिये कि सभ्य समाज की हमारी जो कल्पना है वहाँ तक वे नहीं पहुँचे हैं, उनके यहाँ स्कूल, अस्पताल, अदालतें और पुलिस की चौकियाँ नहीं हैं जो हमारी कल्पना में सभ्यता के चिह्न हैं; परन्तु उनके भी जीवन के तरीकों, रीति-रिवाजों और विश्वासों में उतनी ही अपनी एक विशिष्टता है जितनी कि आगे बढ़े हुए यूनानियों और रोमनों में थी अथवा आज के ब्रिटिशों और जर्मनों में है। महज इसलिये कि उनका सामाजिक संगठन दूसरे प्रकार का, उनका प्रकृति-ज्ञान बहुत संकुचित और उनके औजार भद्दे हैं, हम उन्हें असभ्य या वर्बर नहीं कह सकते। आज भी हम उन राष्ट्रों को जो राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, अर्द्ध-सभ्य या अर्ध-वर्बर कहा करते हैं, क्योंकि हम यही मान लेते हैं कि राजनीतिक सफलता या आर्थिक सम्पन्नता अथवा जन-संहार की कुशलता ही सभ्यता की

कसौटी है। जापान तभी बहुत सभ्य माना गया जब उसने रूस से लड़कर उसे शिकस्त दी। पर यदि सभ्यता की यही कसौटी मानी जाय तो जिन तातारों ने संग वंश को उखाड़ फेंका था जिन बर्बरों ने रोमन साम्राज्य पादाक्रान्त कर डाला उन्हें सभ्य मानव समाज के आदर्श ही मानना होगा।

जो समाज बिल्कुल प्राथमिक अवस्था में हैं उनमें जैसे सभ्यता के अति प्राकृत प्रारम्भिक चिह्न मिलते हैं, वैसे ही सभ्य कहलानेवाले समाजों में बर्बरता के बहुतसे लक्षण अभी तक मौजूद दीख पड़ते हैं। हम लोग हूण, गाथ, वंडाल और तुर्कोमान जातियों को जंगली समझते हैं, पर हम यह नहीं कह सकते कि भविष्य में कभी हमसे अधिक संस्कृति-सम्पन्न मानव जाति हमारी वर्त्तमान सभ्यता की कितनी ही बातों को एक अधूरी सभ्यतावाले समाज के अन्ध-विश्वास और अत्याचार कह कर आश्चर्य और घृणा से नाक-भौं न सिकोड़ेगी। रोमनों के प्राचीन सशस्त्र द्वन्द्व-युद्ध (जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच अथवा मनुष्य और जानवर के बीच तब तक द्वन्द्व होता था जब तक दो में से एक का प्राणान्त न हो जाय) देखकर हम लोग जिस प्रकार उनकी निन्दा करते हैं उसी प्रकार हमारे वंशज भी जानवरों की गुस्साभरी लड़ाइयों और इनामी कुश्तियों के हमारे शौक ही देखकर हमारी भर्त्सना करेंगे, इस

"सुधरे हुए" कसाईपन की तो बात ही क्या, जिसे युद्ध कहते हैं।

सभ्यता हमारे अन्दर है, हमारी सदाचार-सम्बन्धीनी कल्पनाओं में, धार्मिक भावनाओं में, और सामाजिक दृष्टि-कोण में। हम लोग अपने आपको महज इसलिये सभ्य नहीं कह सकते कि हम लोग भाफ से चलनेवाले जहाज और रेलगाड़ी, टेलिफोन और टाइपराइटर से काम लेते हैं। बन्दर को साइकिल पर चढ़ना, गिलास से पानी पीना या पाइप से तम्बाकू पीना सिखला दिया जाय तो भी बन्दर तो बन्दर ही रहेगा। शिल्प-कौशल का नैतिक उन्नति से सम्बन्ध ही क्या ? प्राचीन भारत या यूनान अथवा मध्ययुगीन इटली के यथार्थ विज्ञान और यान्त्रिक संघटन-सम्बन्धी कार्य हमारी वर्त्तमान स्थिति की तुलना में निम्न कोटि के थे, फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आध्यात्मिक मूल्य और जीवन की कला का वे अधिक सच्चा आकलन कर सकते थे। यदि नयी नयी चीजों की व्याकुल तृष्णा या पागल होकर धन-दौलत के पीछे दौड़ने को ही सभ्यता नहीं मान लेना है तो जीवन की कला के सम्बन्ध में बहुतसी ऐसी कल्याणकारी शिक्षाएँ हैं जो हम हिन्दुस्थान या चीन अथवा प्राचीन यूनान से सीख सकते हैं। यह बात नहीं कि उनके अन्दर अपने कोई

दोष नहीं थे। यूनान के नागरिकों को जो अवकाश और ज्ञान का प्रकाश मिलता था उसका मिलना वहाँ के उन बहु-संख्यक कारीगरों और गुलामों को, जो समाज के लिये जरूरी पर मिहनत-तलब कामों में लगे रहते थे, इस विशेष अधिकार से वञ्चित रखने के कारण ही सम्भव हुआ था। हिन्दू सभ्यता ने बड़ी बुद्धिमानी से स्थानिक रीति-रस्मों और मान्यताओं के प्रति सहिष्णुता और सहानुभूति का बर्त्ताव रखकर देशज जातियों को धीरे धीरे एक स्वतन्त्र और सर्वाङ्ग समन्वय में मिला तो लिया, पर पिछड़े हुए लोगों को शिक्षा देने की ओर उसने ध्यान नहीं दिया। हिन्दू आदर्श महान् थे, पर वे आम जनता तक नहीं पहुँचे। पिछले समय में स्वेच्छाचारी शासन की अधीनता से मनुष्यत्व की अबाध उन्नति का मार्ग रुक गया और उससे उन उच्च आदर्शों से देश का बहुत शोचनीय पतन हुआ।

आधुनिक सभ्यता आर्थिक बर्बरता की हालत में है। उसे संसार और उसकी शक्ति से जितना सरोकार है उतना आत्मा और उसकी सिद्धि से नहीं। इसका कहना यह है कि अपने हाथ में जो काम है उसीको अच्छी तरह से बना लो, मूल और अन्तिम तत्त्व हमारे ज्ञान की सीमा के बाहर हैं। अपने अस्तित्व के इन बाह्य रूपों को पूर्णता को पहुँचाना, इस पृथ्वी

के संभावित आर्थिक साधनों का पूरा उपयोग करना, पार्थिव सुख का सर्वत्र विस्तार करना और मनुष्य के स्वार्थों की सिद्धि के लिये प्रकृति की शक्तियों पर अपना अधिकार जमाना, यह एक अनन्त और चिन्तन-सापेक्ष प्रयास है। इस तरह हम लोग प्राण और जड़ शरीर पर अपने मन का अधिकार जतलाते हैं पर अब तक भी मन, प्राण, शरीर पर आत्मा का अधिकार नहीं। प्राण और शरीर का नियमन करने के लिये हम लोगों ने उनकी प्रक्रियाओं और सम्भावित फलों को समझ लिया है। वैज्ञानिक उन्नति की प्रारम्भिक विजय होने पर उसने तत्त्वज्ञान को अपने सामने से हटाना और दार्शनिक विचार का तिरस्कार करना आरम्भ किया और धर्म को तो करीब करीब मार ही डाला। हम लोग, अवश्य ही अपने पूर्वजों से अधिक पढ़े हुए और वैज्ञानिक हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनसे कम पाशविक और अधिक मानव-हृदयवाले हैं। हमारी शिक्षा ने बौद्धिक दासत्व से हमें नहीं छुड़ाया है। यह मन को उत्तेजित करती है पर सन्तुष्ट नहीं करती। हम लोग कविता पढ़ते, उपन्यास चाट की तरह चट कर जाते और चल-चित्रों को देखा करते हैं; और सोचते हैं, हम लोग बड़े सुसंस्कृत हैं। हमारी बुद्धिवादिता एक दिखाव है। हम लोग अपने प्राकृत भावों को जँचाने का काम बुद्धि से लेते हैं।

जो हम लोग करना चाहते हैं उसके लिये बहाने ढूँढ़ते और जो मानना चाहते हैं उसके लिये दलीलें पेश करते हैं। "उपकार करने इधर-उधर जाने" की बात हमें बहुत जँचती है, पर "इधर-उधर जाना" ही बहुत होता है, "उपकार करना" बहुत कम। हम लोग बाह्यतः रहते हैं, मानव जाति के आदर्शों के सम्बन्ध में बड़े सुन्दर भाषण करते हैं और चलतू बातें कहा करते हैं यद्यपि रहते हैं आदर्शों से दूर और नियमों के पालन से सर्वथा बेलाग। हम लोगों का उन पुराने मूर्ख, जरा-जरासी बात पर भड़कनेवाले, भोले-भाले लोगों से अधिक अन्तर तो नहीं है जो मौके पर वीरता दिखा सकते थे और उससे भी अधिक भयङ्कर क्रूर कर्म भी कर सकते थे। मनुष्य नामधारी जानवर अभी पालतू नहीं हुआ है। अर्थसिद्धि हमारा परम ध्येय है और हमारे प्रायः सभी युद्ध आर्थिक कारणों से हुआ करते हैं। अर्थसाधन ही हमारा धर्म है। अपना व्यापार बढ़ाने के लिये हम लोग युद्ध करते हैं, अपने राज्यों का विस्तार करते और उपनिवेश करते हैं। व्यापार और व्यापार की मंडियों के लिये हम लोग अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता का त्याग करते हैं, क्योंकि ऐसा न करें तो बुद्धि में संशय उठ सकता है; अपने हृदय की सहानुभूति को छोड़ देते हैं, क्योंकि न छोड़ें तो श्रमजीवियों को चूसने और

पिछड़ी हुई जातियों पर हुकूमत करने के काम में जो निपुणता होनी चाहिये वह नहीं रहती ; और अपनी कल्पना-शक्ति को भी उत्सर्ग कर देते हैं, अन्यथा वह हमारी दृढ़ता में बाधक हो सकती है। हमारी सभ्यता व्यक्तियों और जातियों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता, युद्ध के गौरव और विजय के हर्ष के आधार पर खड़ी एक जयिष्णु सभ्यता है। यह तीव्र वेग और लापरवा साहस, शौर्य और उत्तेजना, उत्सुक कर्मपरता और किसी की न सुननेवाले महा कोलाहल से बनी हुई एक चीज है। पर इसकी कामना कभी तृप्त होनेवाली नहीं, कभी तृप्त न होना ही इसके भाग्य का विधान है।

वेग की तीव्रता, माल की अधिकता, सब बातों में एक नाप और जड़ पदार्थों में मन की तन्मयता, इन यान्त्रिक गुणों के कारण हम लोगों का मन अध्यात्म की ओर से बहुत खिंचा-सा रहता है। हम लोगों में एकत्व का आन्तरिक अभाव है और सर्वत्र मानसिक अराजकता फैली हुई है। हम लोग बातें करते हैं स्वातंत्र्य, सौन्दर्य, प्रेम और सदाचार से युक्त सच्चे मानव जीवन के आध्यात्मिक आदर्श की, पर रहते हैं बुरी तरह से आसक्त देह के जीवन में, उसकी प्राणगत आवश्यकताओं और वासनाओं को पूरा करने में, इन्द्रियों और मन के वेगोंवाले क्षुद्र मनोजीवन में तथा क्षुद्र कामाचार की

रीति-नीति में। और भी भद्दा जो भौतिक जंगलीपन है उससे भी यह जीवन अछूता नहीं है। शरीर के सम्बन्ध में अब जो नया भाव लोगों में आया है उससे उसका पता चलता है और "पवित्र कामुकता," "दिव्य अग्नि," "भूगर्भ गुप्त-मन्दिर," "उदार-बर्बर," जो प्रकृति के समीप है, "मौलिक जगत् की आवाज" इत्यादि शब्दों द्वारा सूचित की जानेवाली चीजों का जो कुछ आदर किया जाता है उससे भी उसका पता लग जाता है। प्राकृत उत्तेजना को पवित्र समझा जाता और विचार-विरुद्धता को साधुता के भेस में छिपाया जाता है।

संसार विचारशून्य अकारण घटन-विघटन करनेवाली किसी अन्ध-शक्ति के हाथ में नहीं है। इतिहास का एक न्यायशास्त्र है। लार्ड एक्टन चेतावनी देते हैं, "हम लोग तीन हजार वर्षों को यों ही छोड़कर चार सौ वर्षों के निरीक्षण के आधार पर कोई तत्त्वज्ञान खड़ा करना चाहें तो नहीं कर सकते" (दि स्टडी आफ हिस्टरी)। भूतकाल की सभ्यताओं के उत्थान और पतन के इतिहासों को हम लोग देखते हैं तो यह पता चलता है कि जो सभ्यताएँ राजनीति, स्वदेशाभिमान और परस्पर का नाश करने में लगीं वे, चाहे अन्दर से हो या बाहर से, स्वयं नष्ट हो गयीं। प्रस्तर युग से पश्चिमी यूरोप के निकल आने के बहुत काल पूर्व मिश्र, बेबिलान, असीरिया,

क्रीट और चालडिया की सभ्यताएँ बहुत बड़े उत्कर्ष को प्राप्त हो चुकी थीं। यदि हम अपने इतिहास के विगत छ हजार वर्षों के प्रत्येक सौ वर्ष को एक मिनट बराबर मान लें और घड़ी के हिसाब में इस इतिहास को ले आवें, जैसा कि डा० एलेकजाण्डर आयर्विन ने कुछ समय पहले सुझाया था, तो घड़ी में जब दोनों सुइयाँ एक साथ बारह के अंक पर हैं; तब मिश्र और चालडिया को हम इस रंगभूमि के केन्द्र में देखते हैं। बारह बजकर पाँच मिनट पर देखते हैं कि क्रीट आगे बढ़ कर सामने आ गया। बारह बजकर दस मिनट पर असीरिया, और पंद्रह मिनट पर चालडिया सामने आ गये। चीन, हिन्दुस्थान और मीडिया, यदि चीन और हिन्दुस्थान की प्राचीनता के विषय में यूरोपीय विद्वानों का मत मान लिया जाय तो, बारह बजकर बीस मिनट पर सामने आते हैं। पचीस मिनट पर ईरान सबके आगे बढ़ा हुआ दीख पड़ता है और ठीक साढ़े बारह बजे यूनान में हम लोग प्रवेश करते हैं। बारह बजकर पैंतीस मिनट पर सिकंदर को देखते हैं कि दुनिया के नकशे से कई साम्राज्यों को उसने मिटा दिया और बारह बजकर चालीस मिनट पर रोम राज कर रहा है। बारह बजकर पैंतालीस मिनट पर हम लोग बलशाली आधुनिक राष्ट्रों का उदय देखते हैं। अब आगे के दस मिनटों के अन्दर हम

देखते हैं कि हर मिनट कोई न कोई राज्य या साम्राज्य नक्शे से मिट रहा है और उसके स्थान में कोई दूसरा आ रहा है। एक बजने में कुछ सेकंड बाकी हैं जब हमारे सामने पिछला महायुद्ध उपस्थित होता है। एशियाई सभ्यताएँ जो अभी तक बनी हुई हैं उनसे मानव और आध्यात्मिक विचारमूलक व्यवहार की संजीवनी शक्ति का पता चलता है। एशियाई सभ्यता-वालों ने भी युद्ध किये, इनके भी योद्धा राजा हुए, पर उच्चतर जीवन की जो प्रीति इनके अन्तःकरणों में रही है उससे युद्ध के पराक्रम इनकी आँखों पर वह जादू न डाल सके जो यूरोप के लोगों पर अभी तक डाले जा रहे हैं। असीरिया को सैनिक बल के द्वारा सारे संसार को जीत लेने के उत्तरोत्तर अधिकाधिक लोभ के मारक मनोवेग ने ग्रस डाला और इस प्रयास में अति करने के कारण उसका नाश हुआ। प्राचीन यूनान की पुरानी युद्ध की बीमारी ने उसका अन्त किया। जब रोम ने जानी हुई सारी पृथ्वी को जीत लिया और पूर्व और पश्चिम के देश उसे अबाध रूप से राज्यकर देने लगे तब यही हुआ कि रोम ने संसार का राज पाया पर अपना आत्मा खो दिया। विवाह के विषय में रोमनों का दायित्वहीन आचरण, जिसके साथ उनके भोग-विलास के यौवन मद की पूर्णता और उनकी अवनति का आरंभ होता है, एक बड़ा

भारी अनाचार था। उदाहरणार्थ, एक पुरुष के विषय में लिखा है कि उसने बाईस विवाह करने के बाद तेईसवीं पत्नी का पाणिग्रहण किया और एक स्त्री के विषय में यह कि उसने चौबीस पति कर चुकने के बाद पचीसवाँ पति किया। विवाह जब चाहते कर लेते, जब चाहते तोड़ देते और फिर जब चाहते जोड़ लेते थे। विवाह क्या हुआ, माल-असबाब हुआ जिसे जब चाहा अदला-बदला कर लिया। उनमें जो विचारशील थे उन्होंने रोम के इस आध्यात्मिक-ह्रास से उसे आगाह भी किया। इतिहासकार लिवि ने कहा, "हम लोग न तो अपनी बुराइयों का भार ढोना बर्दाश्त कर सकते हैं न उन्हें हटाने के उपाय करना ही।" टासिटस ने रोम की उस दुनिया का, जब उसके बचने की कोई आशा न रही तब का, एक बड़ा ही करुणाजनक चित्र खींचा है। जुवेनल ने उसे अपने दंश करने वाले व्यंग से मानो कठघरे में खड़ा कर दिया है और अपने शब्दों की मार से उसे क्षत-विक्षत कर डाला है। पर जन-समुदाय ने इस मौन-सी धीमी आवाज को नहीं सुना और वह गौरव जिसको रोम कहते थे, नष्ट हो गया। साम्राज्य के बाद साम्राज्य सारी पृथ्वी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की लालसा के फलस्वरूप नष्ट होते गये, और सभ्यता के बाद सभ्यता आध्यात्मिक अर्थशून्यता के कारण ह्रास को प्राप्त होती

गयीं। विष्णुपुराण के रचयिता हम लोगों से कहते हैं कि, सोचो और समझो और उन कल्कि के आगमन की प्रतीक्षा करो जिनका अवतार तब होनेवाला है जब समाज उस अवस्था में पहुँचेगा जहाँ अर्थ से ही समाज में प्रतिष्ठा होगी, धन ही अन्य सब गुणों और धर्मों का मूल होगा, अभिरुचि ही पति-पत्नी के बीच सम्बन्ध का एकमात्र बन्धन होगा, झूठ ही व्यवहार में यशस्वी होने का साधन होगा, स्त्री ही एकमात्र सुख होगी और बाहर का वेश ही अन्दर का धर्म समझा जायगा।[1] यदि यह भद्दा और जंगली आदर्श बहुत काल तक बना रहा तो हमारे जीवन की गति कुण्ठित होगी और हमारी सभ्यता अपने ही बोझ से दबकर मर जायगी। बातें सब साफ साफ हैं और इतिहास के कानून निर्दय हैं। उनसे हम किसी प्रकार बच नहीं सकते। जो शस्त्र उठायेंगे वे शस्त्र से ही मारे जायेंगे। जब किसी सभ्यता की विजय होती है तब वह भौतिक शक्ति से उतनी नहीं जितनी कि आत्मशक्ति से होती है। और जब उसका पतन होता है तब आध्यात्मिक जीवनोत्साह और प्राणशक्ति के अभाव से ही होता है। जब तक

1 अर्थ एव अभिजनहेतुः, धनमेव अशेषधर्महेतुः, अभिरुचिरेव दाम्पत्यसम्बन्धहेतुः, अनृतमेव व्यवहारजयहेतुः, स्त्रीत्वमेव उपभोगहेतुः, ब्रह्मसूत्रमेव विप्रत्वहेतुः, लिङ्गधारणमेव आश्रमहेतुः। (४—२४, २१)

हम लोग तलवार का भरोसा किये हुए हैं और आत्मशक्ति के द्वारा शासन करने की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं तब तक भविष्य अन्धकारमय है। जो समाज अर्थलोलुप है, जिसका आधार प्रतिद्वन्द्विता है और लड़ाई-झगड़े में भौतिक बल ही जिसका न्यायकर्त्ता है, जिसका विचार उथला, कला भावना-प्रधान और आचार असंयत है वह राजसी सभ्यता का प्रतीक है, सात्त्विक नहीं, और इसलिये वह टिक नहीं सकता। इस प्रकार जगत् जो महाविपद् की ओर दौड़ा जा रहा है उसे केवल एक आध्यात्मिक पुनर्घटन ही बचा सकता है। पैगम्बर के शब्द स्मरण हो आते हैं—"फिरो तुम लोग, फिरो तुम लोग, क्यों व्यर्थ मारे जाते हो?" हेगेल की यह कैसी निष्ठुर उक्ति है, "इतिहास से हम लोग यही सीखते हैं कि मानव जाति इतिहास से कुछ नहीं सीखती।" इस वचन को हम लोग क्या झूठा साबित करेंगे या अपनी ओर से भी इसीकी पुष्टि करेंगे? सभ्यता का भविष्य ही नहीं, मानव जाति का भविष्य संकट में है। अवश्य ही हमारे हाथ इसे जो रूप चाहें दे सकते हैं। यह हम लोगों का कर्त्तव्य है कि जगत् को मानव जाति के लिये सुरक्षित बना दें।

निराश होने का कोई प्रयोजन नहीं है। इस उपग्रह पर हम लोगों का आना अभी हाल में ही हुआ है। कोई आश्चर्य

की बात नहीं जो अभी हम लोग केवल अर्द्धसभ्य हैं। ज्योतिर्विद् बतलाते हैं कि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यह पृथ्वी एक करोड़ वर्ष बाद मनुष्यों के रहने योग्य न रहेगी अथवा सूर्य का तेज जाता रहेगा। यदि हम लोग उन्नति करते हुए चले चलें, केवल भौतिक और यान्त्रिक उन्नति नहीं बल्कि बौद्धिक और आध्यात्मिक भी, तो मानव जाति का भविष्य सचमुच ही महान् है। मैं इतना आशावादी हूँ कि अभी की उथल-पुथल से भी मुझे यह आशा है कि अन्त में जगत् के कल्याण-साधन में ही यह सहायक होगी। हमारी सभ्यता और उसके मूल तत्त्वों का अच्छी तरह से विश्लेषण और बिना किसी सोच-संकोच के आलोचन हो जाना, आगे जो कोई सुधार होनेवाला हो, उसके लिये आवश्यक है। इसलिये अपने अपने मत के अनुयायी मताभिमानी लोग यदि कुछ गड़बड़ मचाते हैं अथवा परंपरावादी ललकारते हैं या आधुनिक लोग उन लोगों की बातों का जोरदार खण्डन करते हैं जो उन्नतिशील मन को भूतकाल की बेड़ियों से बाँध रखना चाहते हैं तो हमें इन सबका ही स्वागत करना चाहिये, क्योंकि सचाई के साथ अपनी भूल को स्वीकार करना सब प्रकार के सुधार का मूलारम्भ है। भविष्य में बहुत दूर तक कोई नहीं देख सकता, तथापि जो लम्बा रास्ता हम लोगों के सामने है, उसके प्रारम्भिक कदम, जहाँ तक हम लोग देख सकें, देखें।

पुनर्घटन

धर्म

धर्म के सम्बन्ध में किसी महान् घटनात्मक प्रयास के होने के पूर्व संशयवृत्ति की एक बड़ी जोरदार लहर आया करती है। इससे परंपरा से प्रचलित रूढ़ियों को बड़े जोरों का धक्का लगता है; इन रूढ़ियों का टूटना धर्म के इस नवीन प्रयास के लिये भूमि तैयार करने का काम करता है। सारी चीजें हिल जाती हैं, ताकि जो चीजें हिलनेवाली नहीं हैं वे सामने आ जायँ। धर्म को आलोचना-प्रत्यालोचना से बरी रखने का प्रयत्न बिलकुल बेकार है। मन को मारकर उसकी आधि-व्याधियाँ नहीं हटायी जा सकतीं। जड़ यन्त्र की तरह लकीर के फकीर बने रहना ईश्वर या धर्म को न मानने के बराबर ही किसी अर्थ का नहीं होता। धर्म से हम लोग कभी अलग हो ही नहीं सकते। अलख-अगोचर सत् के साथ अपना मेल बैठाने की आवश्यकता मानव जीवन के अन्दर बराबर बनी ही हुई है। जब तक मनुष्य मनुष्य है, जब तक उसमें आशा

और अभीप्सा है, जब तक वह जीवन के अभिप्राय को जानने और उसकी जिम्मेदारियों को समझने में प्रयत्नवान् है, तब तक धर्म के नष्ट होने का कोई भय नहीं है। प्रश्न केवल उसके नव-निरूपण का है। जो सिद्धान्त सर्वमान्य हैं, आधुनिक ज्ञान और समीक्षा के साथ जिनका मेल है, उन्हें हमें नये ढंग से निरूपित करना होगा। यह दुहरा काम है, एक ओर प्रचलित रूढ़ियों की अत्याचारिता को हटाना होगा और दूसरी ओर विच्छेदकारिणी स्वैरबुद्धि के अनर्थों से बचना होगा।

जगत् के सब पदार्थों में जो कार्य-कारणभाव दीख पड़ता है उसीके आधार पर यदि कोई तार्किक यह सिद्ध किया चाहे कि जागतिक कार्य-कारण-शृङ्खला की कोई पहली लड़ी इस जगत् का आदि कारण होगी तो इस तर्क का खण्डन किया जा सकता है; पर कार्य-कारण-सम्बन्ध के न्याय से ही यदि यह कहा जाय कि इस जगत् का कोई तर्कसिद्ध आधार है अथवा इसके मूल में इसका कोई ऐसा आधारभूत स्तर है जो इसे धारण किये रहता है तो यह कहना उतना आपत्ति-जनक नहीं होगा। इसी प्रकार, "इस जगत् का कोई उद्देश्य है" इस बात को यदि ऐसे भद्दे ढङ्ग से कहा जाय कि, "हमारी नाक इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनायी गयी है कि इस पर

ऐनक रखा जाय" तो वालटेयर ने ऐसे उद्देश्यवाद का जो उपहास किया वह ठीक ही है; जगत् के उद्देश्य के सम्बन्ध में ऐसी फबती उड़ाने का कोई अर्थ नहीं होता। पर इसी बात को यदि यों समझा जाय कि जगत् में जो एक प्रकार की सुव्यवस्था और सुनियन्त्रित कार्य-प्रणाली देखने में आती है उससे यह मालूम होता है कि इसके पीछे कोई सुनिश्चित योजना और उद्देश्य है, यह केवल खुशकिस्मती का कोई खेल नहीं, तो ऐसा कहना निश्चय ही विचार के अयोग्य नहीं होता। जगत् को वैज्ञानिकों ने जैसा कुछ देखा है, उससे अनीश्वरता की कोई बात नहीं निकलती। सच तो यह है कि जगत् की परास्थिति या उसकी युक्ति-सिद्धता के मूल प्रश्नों का विचार करना विज्ञान का काम ही नहीं है। विज्ञान जगत् और जीवन के कुछ पहलुओं का विवरण पेश करता और परम प्रश्नों को दर्शन और धर्म जैसे विषयों के लिये छोड़ देता है। यदि विश्व की प्रक्रिया के सम्बन्ध में दो प्रकार के ऐसे मत हो सकते हैं जो एकसे ही मान्य और युक्तिसंगत हों तो सीधी बात यही है कि हम इनमें से उसी मत को मानेंगे जो मानव-तनधारियों के परम भवितव्य का मार्ग खोल देने के अधिक अनुकूल हो। विज्ञान की असलियत और उसके करतबों के यदि हम कायल हैं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि इस विश्व-

प्रक्रिया के पीछे कोई आत्मिक सत्ता है पर उसे पकड़ पाना अवश्य ही कठिन और कठिन करना असम्भव है। वह प्रकृति के अन्दर प्राण का आना और फिर क्रम से मन, बुद्धि और हृदय का उत्पन्न होना यह बतलाता है कि यह गति निश्चित रूप से विकास की ओर है, चाहे बीच बीच में बार बार ह्रास, अकर्मण्यता, क्रूरता और मूर्खता के लक्षण क्यों न दीख पड़ जाया करें। जीवों के विकास का सामान्य रूख सतत संवर्द्धनशील पूर्णत्व की सिद्धि की ओर है। जिन गुणों को कीमती मानकर हम लोग बहुत आदर करते हैं, जैसे मानव जीवन की उन्नति, सामाजिक विवेक-बुद्धि का विकास, दूसरों के दुःखों में सहानुभूति, जीवन के सब अंगों का परस्पर सामञ्जस्य आदि, इन सबकी क्रम से बराबर वृद्धि ही हो रही है। प्रकृति के अन्दर ही सत्प्रवृत्ति की एक अन्तःस्थित धारा दीख पड़ती है। जगत्प्रक्रिया का ऐसा आध्यात्मिक निरूपण केवल हृदय का एक भाव या मन की कोई कल्पनामात्र नहीं है, वह व्हाइटहेड और स्मट्स, आलेक्जेण्डर और लायड मार्गन जैसे वैज्ञानिक तत्त्वविदों के ग्रन्थों से स्पष्ट ही प्रकट है।

परन्तु इतने दिन हम लोग जिस अज्ञात सनातन को आँखें बन्द किये टटोल रहे थे उसकी ओर देखने की एक नवीन दृष्टि विज्ञान हमें देता है। प्राचीन मन्त्र-शास्त्र या

श्रुतियों को विज्ञान उनके उच्च पद से च्युत नहीं करता, पर प्राचीन स्वमताभिमान को जरूर धक्का पहुँचाता है। ईश्वर की जो बहुतसी मूर्तियाँ मनुष्य ने अपने लिये बनायीं उन्हें विज्ञान तोड़-फोड़ डालता है, पर डंके की चोट यह भी बतलाता है कि इस विश्व-प्रक्रिया के पीछे कोई सत् आत्मा है। वह अनन्त है, कोई सगुण साकार व्यष्टिरूप अधिष्ठातृ देवता नहीं जो स्वर्ग में प्रतिष्ठित हो या मिट्टी के वर्त्तन गढ़नेवाले कुम्हार की तरह का कोई कारीगर हो अथवा कोई ऐसा जगत्पिता हो जो अपने बहके हुए बेटों के लौट आने पर ही खुशी मनाता हो। वह समस्त विश्व के जीवन का सर्वव्यापक तत्त्व है, वह हमारे अन्दर है और जो कुछ जहाँ है उस सबके अन्दर है। वह सबको धारण किये रहता, सबमें व्याप्त रहता और सबसे इतनी दूर रहता है कि जिस दूरी का कोई अन्त नहीं। वह जगत् में इस तरह मिला रहता है जैसे समुद्र में नमक या फूल में गंध। उसके सब कार्य सुप्रतिष्ठित विधानों द्वारा होते हैं। किसी व्यक्ति-विशेष की खातिर उसका विधान रोका नहीं जाता। यदि हम किसी प्रमाद में जा गिरते हैं तो कोई अलौकिक शक्ति आकर हमें नहीं बचा सकती। विधान के उल्लंघन की कोई क्षमा नहीं है। मुँह से निकला शब्द निकल चुका, चला हुआ पग चल चुका, वह फिरकर

लौट नहीं सकता। भूतकाल निर्द्धारित हो चुका, भविष्य चाहे कितना ही खुला हो।

वह परमतत्त्व मनुष्य की बुद्धि के सामने विविध रूपों में प्रकट होता है। हिन्दुओं की आस्तिक्य-बुद्धि और जगत्-जगदीश्वर में ऐक्यभाव, बौद्धों का अपौरुषेय कर्मविधान और बुद्ध के द्वारा परित्राण, प्राचीन काल के अनेक विख्यात बहु-देववादी सम्प्रदायों के अनेकविध सगुण साकार देव और देवियाँ, यहूदियों के न्याय-निष्ठुर परम-पावन ईश्वर, कैथोलिक सम्प्रदायवाले ईसाइयों के किसी कदर दूर रहनेवाले सगुण-साकार ईश्वर और समीप रहनेवाले अनेकानेक देव और उपदेव, प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के सगुण साकार ईश्वर और मुसल-मानों के एकमेव ईश्वर—ये सब मान्यताएँ विभिन्न मार्ग हैं जिनसे मनुष्यों ने उस अलख-अगोचर सत् के साथ, जिसे वे अपनी व्यष्टि-सत्ता से कोई महान्, उत्तम और श्रेष्ठ सत्ता मानते हैं, अपना सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है। यदि हम मनुष्यों के स्वभावों का भिन्न भिन्न होना मानते हैं तो अना-यास ही यह समझ सकते हैं कि ईश्वर भिन्न भिन्न लोगों को भिन्न भिन्न रूपों में क्यों अच्छे लगते हैं और इसलिये सब मतों और सम्प्रदायों को एकाकार करने की चेष्टा किस प्रकार सर्वथा

निरर्थक है। इन सब मतों के मूल में वही एक परम तत्त्व है जो अनिवर्चनीय और अनिर्द्देश्य है।

धर्म का विभिन्न होना प्रायः युद्ध का एक बहाना हुआ करता है। सारे मानव समाज के लिये एक धर्म कायम करने की जो चेष्टाएँ हुई हैं उनसे जगत् में अशान्ति और दुःख ही बढ़े हैं। अपने मत को दूसरों पर लादने की अभिलाषा करना स्वार्थपरता का एक स्वभाव है। यह समझना कि हम ही सत्य के एक मात्र ठेकेदार हैं अथवा यह मानना कि जगत् के विषय में हमारा जो कुछ ज्ञान है वही सही है, अहंभाव का एक भ्रम है। प्रत्येक धर्म उस धर्म के माननेवाले लोगों का हृदय है; उनके जीवन और शुभेच्छा का आन्तरिक विधान है। प्रत्येक समाज के अन्दर भगवत्तत्त्व है और उसीमें रह कर वह समाज फलता-फूलता है। जब उस समाज का दूसरे समाजों के साथ सम्पर्क होता है तब वह समाज उन समाजों के भावों में एक नया परिवर्त्तन लाता और एक नयी चीज बना देता है। दूसरों से पायी हुई चीज को वैसे ही दुहराते जाने की अपेक्षा, दूसरों से जो कुछ मिला उसे इस तरह बदल कर एक नयी चीज पैदा करना अधिक अच्छा है। सारी मनुष्यजाति के लिये यदि एक धर्म हो जाय तो उससे संसार का आध्यात्मिक वैभव ही नष्ट हो जायगा। यदि हम चाहते हैं कि मनुष्य जाति की

बुद्धि जड़त्व को न प्राप्त हो और उसका हृदय स्वस्थ बना रहे तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम किसी भी धर्म को हेय न समझें, किसी धर्म का आदर करने से इनकार न करें। "भगवद्-भाव से प्रेरित हो कर जो चलते हैं, वे सब भगवान् के संतान हैं," यह सदा याद रखना चाहिये।

आध्यात्मिक विषयों में हर किसी को अपनी ही विवेक-बुद्धि के मार्ग पर चलना चाहिये। स्वाधीनता ग्रहण करने में गल्ती हो जाने की जोखिम उठानी ही पड़ती है, पर ये गल्तियाँ अपनी ही होती हैं और होती हैं कष्टदायक ही, तथापि सत्य के अनुसन्धान-मार्ग में ये वृथा नहीं होतीं। ऐसी गल्तियाँ जीवन के गंभीरतर प्रश्नों का निरन्तर विचार करने के सतत प्रयत्न के द्वारा ही सुधारी जा सकती हैं।

भविष्य का धर्म इतना व्यापक होने वाला है कि उसमें उन सबका समावेश होगा जिनके हृदय धार्मिक हैं; उन्हें अपने विशेष साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और भाव-भक्ति और ध्यान के प्रकारों के विषय में पूरी स्वतन्त्रता रहेगी। कारण धर्म पार-भौतिक सत्ताविशेष की कोई विशिष्ट बौद्धिक मान्यता ही नहीं है, बल्कि उसकी अपेक्षा आत्मचर्या और अन्तःकरण की शुद्धि से ही उसका विशेष सम्बन्ध है।

हम अच्छे या बुरे समझे जायँगे इस बात से नहीं कि हम

क्या मानते हैं और क्या नहीं मानते बल्कि इस बातसे कि हमारा जीवन और चरित्र कैसा है। जो लोग सच्चे धार्म्मिक हैं वे, चाहे किसी भी सम्प्रदाय के हों, एकसा ही भाव और विचार रखते हैं। उनके अन्दर एक ऐसी स्थिरता होती है जो संपत्-विपत् से विचलित नहीं होती। आध्यात्मिक जीवन का सार ही यह है कि आत्मा इतना महान् है कि भयानक से भयानक विपत्ति भी उसे ड़िगा नहीं सकती। जो आत्मवान् हैं वे दुनिया के ऊपर रहते हैं, दुनिया को उन्होंने जीत लिया है। उन पर गोलियाँ बरस रही हों तो भी वे सच बोल सकते हैं; उनकी बोटी बोटी काटी जाय तो भी प्रतिशोध की भावना उनके हृदय में आग नहीं लगा सकती। उनकी दृष्टि विश्वव्यापिनी होती है, इससे किसी प्रकार की सांसारिक आसक्ति या स्वार्थ में रत होना वे मूर्खता और व्यर्थता समझते हैं। बलिदान जो कीमत का विचार नहीं करता, आत्मोत्सर्ग जो बदले में कोई चीज नहीं चाहता, वही उनका नित्य जीवन होता है। ऐसे लोगों के वीरतापूर्ण त्याग और जीवन-गाम्भीर्य को हम लोगों में से बहुतेरे यह कह कर टाल देते हैं कि ये बातें मनुष्य-स्वभाव के बहुत परे की हैं; अथवा अधिक से अधिक इतना मान लेते हैं कि संसार के, हिन्दुस्थान के से दुर्बल और सब तरह से हारे हुए लोगों को सान्त्वना दिलाने के

लिये ये बड़े सुन्दर दृष्टान्त हैं पर ये कभी मानव जीवन में नहीं आ सकते। परन्तु प्रत्येक धर्म में ही तप, तेज, त्याग का विशेष आग्रह है। अनायास मिलनेवाली सान्त्वना यथार्थ में धार्मिक नहीं होती। जीवन को निरन्तर सुखभोग का साधन समझना अधर्म का लक्षण है। दुःख जीवन का कोई अकस्मात् आगन्तुक साथी नहीं, बल्कि जीवन के केंद्र में उसकी स्थिति है। दुःख और क्लेश में ही समस्त महत्कार्य सिद्ध हुए हैं। जीवन का लक्ष्य सांसारिक सुख (प्रेयस्) नहीं बल्कि परम कल्याण (श्रेयस्) है। सुख का जीवन और जीवन का सुख दोनों एक चीज नहीं हैं। यदि दुःख हमें अपने जीवन के लक्ष्य के समीप पहुँचाता है तो यह भी उतना ही बड़ा सुख है जितना कि कोई सुखमय जीवन। तीव्र से तीव्र यन्त्रणा भी, यदि अपने उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हो तो सुख-पूर्वक स्वीकार की जा सकती है। जर्मन कवि और नाटककार गेटे ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है, "पर्वत की चढ़ाई में शिखर मन को खींचते हैं, रास्ते की पेड़ियाँ नहीं।" इस बात को हम लोग अपने रोजमर्रा के जीवन में खूब समझते हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ फैशन की खातिर शारीरिक कष्ट सह लेना खूब पसंद करती हैं। मुख की शोभा के लिये नाक-कान छिदवाने या गोदना लेने को बड़ी खुशी से तैयार होती हैं। मनुष्य स्वेच्छा-

शील प्राणी है और स्वेच्छा का उपयोग उसके जीवन की सर्व-प्रथम आवश्यकता होती है। पर उसकी स्वेच्छा का जगत् की माँग के साथ मेल होना जरूरी है। इसका मतलब है संघर्ष, संग्राम और दुःख; और ये सब नित्यकर्म में शामिल हैं।

प्रत्येक जीव एक विशिष्ट अविकसित प्राकृत सत्ता है जो पाशविक भावों से सर्वथा मुक्त न होने पर भी यह सामर्थ्य अपने अन्दर रखती है कि उन पाशविक भावों को बदल दे। स्वान्तःस्थित आत्मा के आदेशों को स्वेच्छापूर्वक ग्रहण करने की वृत्ति और उसके विधान के अनुकूल अपनी प्रकृति को बना लेने की साधना के द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति साधन कर सकता है। मन जहाँ लगा हो वहाँ से फेर कर उसे इष्ट-साधन में लगाना और सुप्त अचेत मन पर नये संस्कार उत्पन्न करना, ये ही उपाय हैं जिनसे विषयासक्त मन को अध्यात्मप्रवण बनाया जा सकता है। इसका मतलब है, संयम और साधना। प्राकृत मनुष्य के इस प्रकार रूपान्तर-साधन की प्रत्येक क्रिया में वास्तविक आकर्षण और सच्चा संग्राम है। परन्तु यही जीव की व्यष्टि सत्ता की पूर्णता का साधन है। इस प्रयास में कीमत बहुत बड़ी देनी पड़ती है, पर फल भी उतना ही महान् मिलता है। हर प्रकार की उन्नति में इस प्रकार का रूपान्तर हुआ ही करता है। कृमि-कीट-पतंगों के अपने भक्ष्य की खोज करने से

लेकर साधन-रत जीवात्मा के आध्यात्मिक संग्राम तक सहेतुक प्रयासों का एक अविच्छिन्न सोपान-क्रम है। हर जगह अपना लक्ष्य चुन लेना और उसका साधन करना पड़ता है। इस क्रम में केवल मानव-स्तर पर ही यह काम बुद्धिपूर्वक समझ-बूझ कर किया जाता है।

मनुष्य न तो परिस्थिति का दास है न देवताओं के हाथ का कोई अन्धा खिलौना। सारे जगत् के अन्दर पूर्णता की सिद्धि की ओर जो अन्तःप्रवृत्ति है वही मनुष्य में स्वतः चेतन हो कर प्रकट होती है। मानव-स्तर के नीचे के जगत् में उन्नति का क्रम अपने आप चलता है; मानव जगत् में वह स्वेच्छा से चलाया जाता है। मनुष्य जो कुछ है और जो कुछ वह हो सकता है, इसके बीच में जो संग्राम है उससे केवल मनुष्य ही बेचैन रहता है। मनुष्य जीवन का कोई नियम, उन्नति का कोई उसूल जो वह ढूँढा करता है, वही तो अन्य प्राणियों से उसकी विशेषता है।

हम अपने आपको बदल कर ही जगत् को बदलने में समर्थ हो सकते हैं। सारी उन्नति की आत्मा, किसी ने ठीक ही कहा है कि, आत्मा की उन्नति है। नवीन सभ्यता के निर्माण का काम भाग्य के भरोसे छोड़ देना ठीक नहीं—, इसमें दक्षता भी आवश्यक है। अभी बहुत कुछ करना

बाकी है। जगत् की बनावट में अभी कितनी ही बातों की कसर है। उन्नति के क्रम को पीछे हटाना या शीघ्रता से आगे बढ़ाना हम लोगों के हाथ में है। क्रमविकास की शिक्षा स्पष्ट है। जीवन किसी पूर्वनिश्चित कार्यक्रम से चल कर अपने उन्नतिक्रम के संतोष-शिखर पर पहुँच जाता हो, ऐसी कोई बात नहीं है। जीवन भटकता, अटकता, कभी कभी बीच ही में अकस्मात् छूट जाता और प्रायः फिर कर लौट आता है। प्रकृति की प्रक्रियाएँ, मितव्ययिता के उसूल पर नहीं चला करतीं। पूर्व का इतिहास यह बतलाता है कि हम यदि असत् चीज़ को चुन लेंगे तो अभी या पीछे हम खत्म कर दिये जायँगे। हम लोगों में से हर कोई जगत् के उद्देश्य को जान कर तथा उसके साथ तद्रूप होकर शुभतर संसार के निर्म्माणकार्य में भाग ले सकते हैं। प्रत्येक व्यष्टि पुरुष एक विशिष्ट सत्ता है, उसमें कुछ विशिष्ट गुण हैं और जगत् का विशिष्ट कल्याण साधन करने की उसमें एक विशिष्ट क्षमता है। सारी सिद्धियों का सार आत्मलाभ है। जीवन को स्थिर होकर उसके पूर्ण रूप में देखने से हम उसमें अपना स्थान पा सकते हैं। प्रत्येक मानव जीव गुणों और कर्मों का एक ऐसा समुदाय है जो विभिन्न प्रकार के केन्द्रों में से किसी न किसी केन्द्र पर स्थित रहता है और यह केन्द्र जिसका जितना नीचा

या ऊँचा होता है उसीके अनुसार उसका चरित्र निःसार या सरस गम्भीर होता है। बाह्य जागतिक परिस्थितियाँ चाहे कुछ भी हों, केन्द्र का चुनाव यदि सही है तो उससे वे परिस्थितियाँ चरितार्थ होती हैं। चिन्तन और मनन का यही काम है कि हम अपने जीवन के उस केन्द्र को ढूँढ निकालें जो हमारी प्रकृति के सब अंगों को एकमुखी कर सके, हम विश्व में अपना विशिष्ट स्थान लाभ करें और वह शक्ति अर्जित कर लें जिससे विश्व के रंगमंच पर हम अपनी अपनी भूमिका को, वह भूमिका चाहे कितनी ही कनिष्ठ या कष्टसाध्य हो, अदा कर सकें। इसीलिये शान्ति के साथ चिन्तन-मनन और एकान्त-वास की आवश्यकता है।

सदाचार का जीवन सारगर्भ होता है, उसका सामाजिक मूल्य बहुत बड़ा है। किसी प्राकृत वासना की प्रतिक्रिया के रूप से या किसी क्षणिक भाव के आवेश में आकर कुछ कर डालना सदाचार नहीं है। जिस आचार में सत् की कोई भावना या सारवत्ता होती है वही सदाचार होता है। मानव प्रकृति के प्राकृत उपकरणों को ऐसे संस्कारों से सम्पन्न करना होगा कि वे आध्यात्मिक लक्ष्य के साधक बनें। उपकरणों का संस्काराकार हो असली चीज है। मानव जीवन की सभी अभिव्यक्तियाँ सार्थ हैं और किसी भी अभिव्यक्ति की उत्तमता

या अधमता उसके अभिप्राय और हेतु से ही जाँची जाती है। सबके लिये आचार का एक ही साँचा या नमूना नहीं हो सकता। हर कोई जगत् को अपनी भिन्न दृष्टि से देखता है। जो कोई आदर्श चुन कर हम अपने सामने रख लें, हमें उसका स्वरूप जानना होगा, उसकी साध्यता पर पूर्ण विश्वास करना होगा, उसका साधन ढूँढ निकालना होगा, और उसके लिये हर तरह के कष्ट स्वीकार कर तप और त्याग के तेज और उत्साह के साथ उसे अपने जीवन में सिद्ध करना होगा। इसके अतिरिक्त, सदाचार के सदाचार होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके द्वारा समाज की रक्षा हो और समाज में सामञ्जस्य स्थापित हो जो कि विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य है। जिस किसी जीवनचर्या से मानव जाति उत्सन्न होती या उसमें हिंसा-द्वेष की वृद्धि होती है उसे सदाचार नहीं कह सकते। सदाचार का जीवन यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की महत्ता का आदर हो। दूसरों का आदर करने और उनके अनुकूल अपने आपको बना लेने से ही जीवन समृद्ध होता है। फिनिशिया की माताएँ अपने बच्चों को ही मार कर खा जाती थीं। उनके आराध्यदेव मोलोक ने उन्हें ऐसा करने से रोका। यह काम यदि मोलोक ने न किया होता तो कोई दूसरे देव इस काम को करते। सब मनुष्य अपनी अपनी विशेषता रखनेवाले

विशिष्ट जीव हैं। विशेषता हम सबका समान गुण है। विश्व-प्रक्रिया का लक्ष्य एक ऐसी सामञ्जस्यपूर्ण एकता स्थापित करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशिष्टता को प्राप्त हो।

चारित्रिक उन्नति का विधान यही है कि जो कुछ है उसे मान लो और उसके आगे बढ़ो। जब हम किसी व्यक्ति का उदाहरण सामने रखते हैं तो यह देखते हैं कि मानव प्रकृति के प्राकृत उपकरणों के रूप से उसके अन्दर कितने ही मनोविकार और मलिन वासनाएँ भरी हुई हैं। यह संपद्-विपद् जो कुछ कहिये हमें प्राप्त है, जो नीतिशास्त्र इस प्राप्त अर्थ को अस्वीकार करने और नष्ट कर डालने को कहता है उसका वह विधान संतोषजनक नहीं है। जो कुछ प्राप्त है उसे स्वीकार कर लेना होगा और उसकी बुनियाद पर आत्म-भवन को और ऊपर उठाना होगा। जो कुछ प्राप्त है उसे केवल मान लेने या उसे सुव्यवस्थित बना लेने से ही मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसके हृदय में एक प्रेरणा होती है जो उसे आगे बढ़ाती और ऊँचे चढ़ाती है। जीवन का परम उद्देश्य केवल स्थिति-रक्षा नहीं बल्कि उच्चतर स्थिति लाभ करना है। मनुष्य अपने जीवन को बढ़ाना और बढ़ाते जाना और अभी जो कुछ वह है उसके परे पहुँचना चाहता है जिसमें जीवन की पूर्ण समृद्धि को प्राप्त हो। यदि चारित्रिक जीवन या आचार-धर्म

को परिस्थिति या अवस्था के अनुकूल व्यवस्था माना जाय तो व्यवस्था करने का यह कार्य कभी बन्द नहीं हो सकता जब तक कि अवस्था बराबर बदलती जा रही है। जीवन के जो रूप भूतकाल में थे उनकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। यदि हो भी सकती हो, तो भी वह इष्ट नहीं है। राजपूतों की वीरता का वह नमूना आज की परिस्थिति में काम नहीं दे सकता। यदि परिस्थिति स्थिर और अपरिवर्त्तनीय होती तो भी प्रश्न हल न होता; क्योंकि हमारे आदर्श बराबर बदल रहे हैं। चारित्रिक जीवन या आचार-धर्म का सार ही यह है कि अवस्था के अनुकूल व्यवस्था करने की अपेक्षा हम उस अवस्था को ही इस तरह बदल दें कि वह हमारे आदर्शों को अधिकाधिक रूपान्वित करे। केवल परिस्थिति को मान लेना पर आगे बढ़ने का साहस न करना, अवस्था के अनुकूल व्यवस्था करना पर कोई परि-वर्त्तन न करना एक प्रकार का पूर्णत्व, शान्ति का एक प्रकार हो सकता है; पर यह मनुष्य का पूर्णत्व नहीं, आध्यात्मिक स्वरूप की शान्ति नहीं। जो मनुष्य परिस्थिति के अनुकूल अपनी स्थिति-रक्षा की ऐसी व्यवस्था करता है जैसी तिर्यक् योनि के कुछ प्राणियों ने जिनके खोपड़ी या रीढ़ नहीं होती, अपनी खाल मजबूत बनाने में, इतनी पूर्णता के साथ की है, उसे चरित्रवीर नहीं कहा जा सकता। चरित्रवीर वही है जो

अपने संसार-स्तर को इतना ऊपर उठा ले जाता है जहाँ उसका आचरण, कम से कम अभी से बहुत कुछ अधिक अपने आदर्श के स्तर के अनुकूल हो। अवस्था के अनुकूल पूर्ण व्यवस्था में एक सौन्दर्य होता है, इसमें सन्देह नहीं; पर वह इस परिवर्त्तनशील और नानात्व से परिपूर्ण संसार में दीर्घ काल तक स्थायी नहीं रहता। निरीह निर्दोष बालक का सौन्दर्य अपना स्थान कर्म-शील यौवन के सौन्दर्य को दे डालता है, यौवन अपनी श्री प्रौढ़ वयस् की प्रतिष्ठा को दान करता और इसी प्रकार यह क्रम आगे चलता है। जीवन के मार्ग में कहीं कोई विश्राम नहीं है। प्रत्येक कर्म की सफल सम्पन्नता किसी नवीन कर्म का प्रस्थान-बिन्दु है।

इस विचार के साथ उन परंपरागत मतों का कुछ विरोध सा दीख पड़ता है जो स्व-सिद्धि को ही मानव-प्रयत्न का परम लक्ष्य मानते हैं। इस मान्यता में समाज की उन्नति या उद्धार की अपेक्षा वैयक्तिक मोक्ष का ही विशेष ध्यान है। इस वैय-यक्तिकता के आग्रह का कारण शायद बहुत कुछ धर्म का विधिबद्ध होना, नानाविध नियमों से जकड़ा जाना ही है। समाज धर्म का उपयोग अपने रीति-रस्मों और संस्थाओं को चलाने में किया करता था और जो लोग इसमें अपनी आध्या-त्मिक उन्नति का कोई अवसर न पाते वे किसी मरुभूमि या

जंगल में निकल जाते, किसी मठ का आश्रय लेते अथवा किसी गिरिशृङ्ग पर अपना आसन जमाते थे। इससे समाज के जीवन का प्रवाह रुक जाता, कुछ थोड़े से व्यक्ति भले ही पूर्णता की चोटियों पर पहुँच जाते। पर यथार्थ में इनका भी उद्धार हुआ नहीं कहा जा सकता। उद्धार होने का मतलब केवल इतना ही नहीं है कि क्रोध और भय, दुःख और संकट से हमारा उद्धार हो, बल्कि एकाकीपन और अलगाव से भी हमारा उद्धार होना चाहिये। यदि हमारा यह विश्वास है कि मनुष्यमात्र का परम भवितव्य एक है और सब मनुष्य देवत्व लाभ कर सकते हैं तो जब तक सारे जगत् का उद्धार न हो तब तक हम चैन नहीं ले सकते। सारे सद्धर्म का केन्द्रस्थ भाव यही है कि सब मनुष्य पूर्ण हो सकते हैं, स्वान्तस्थ ईश्वर को पा सकते हैं और सब जीव भागवत जीवन के अन्दर एक दूसरे के साथ एक अदेख एकत्व-सूत्र में अविच्छिन्न रूप से बँधे हैं। जिस जीवात्मा ने आत्मा और शक्ति का योग प्राप्त कर लिया है उसे अपना जीवन केवल आत्मतुष्टि या निष्क्रिय-करुणा में ही नहीं बल्कि सक्रिय कर्म में लगाना होगा। आत्म-तुष्टि से वह तब तक संतुष्ट नहीं रह सकता जब तक कि संसार दुखी ही बना हुआ है, उसके उद्धार का कोई उपाय नहीं बना है। कोई भी मनुष्य पूर्ण आन्तरिक सामञ्जस्य नहीं लाभ कर

सकता जब तक कि बाह्य जगत् का उसके साथ सामञ्जस्य न हो ले। जब तक पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य संस्थापित करने का ध्येय कार्य रूप में परिणत नहीं हुआ है तब तक संत-महात्मा अपना सारा जीवन बाह्य जगत् के उद्धार में लगाते और पृथ्वी पर उस आदर्श को बराबर उद्घाटित करने में लगे रहते हैं। जब तक संसार का उद्धार नहीं हुआ, तब तक किसी का भी यथार्थ में उद्धार नहीं हुआ।

सदा उच्च से उच्चतर वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहना ही भलाई है और स्व-संतुष्टि ही बुराई। स्व-संतुष्टि का भाव हीन बुद्धि का निश्चित लक्षण है। किसी के लिये भी सबसे बुरी चीज यही हो सकती है कि वह अपने उच्चतर ध्येय से अचेत हो जाय। जब तक ऊँचे उठने की पुकार अन्दर से आ रही है तब तक, चाहे कोई कितना ही पापासक्त हो, वह उन्नति-साधन में समर्थ हो सकता है। विवेक-बुद्धि की मार आशा का स्थल है। जहाँ वह भाड़-भटक बन्द हो जाती है वहाँ जीवन में मृत्यु ही रह जाती है। जो मनुष्य जितना ही उन्नत होता है वह आखिरी मंजिल को पहुँचने तक अपने आपसे उतना ही असंतुष्ट होता है।

जिस किसी प्रकार का भी जीवन हो, वह यदि सार्थ है, उससे समाज को लाभ है तो वह सदाचार ही है। मानव-

जीवन की किसी भी अभिव्यक्ति को, यदि उससे उस क्षेत्र में आदर्श की संयत अनुभूति होती हो तो, हम तिरस्कृत नहीं कर सकते। पूर्णता या मानव जीव की अपने परम ध्येय के साथ पूर्ण संगति, मानव प्रकृति के जितने भी रूप हैं उतने रूपों में प्रकट हो सकती है। पवित्रता की प्रतिभा नाना रूपों में अभिव्यक्त होती है। श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है कि जो कुछ "विभूतिमत्, सत्त्वमय, श्रीमत् और वल्युक्त" है वह भागवत शक्ति की अभिव्यक्ति है (अ० १०–४१)। प्लेटो के रूप-संसार में असंख्य दिव्य रूप हैं, उतने ही जितने कि इस जगत् में विविध पदार्थ हैं। स्वर्ग के राज्य में असंख्य प्रासाद हैं।

ऊपर उठने के इस प्रयास में, मंजिल तक न पहुँचे तो भी बेचैन होने का कोई कारण नहीं है; क्योंकि यह जो खेल है, यही असली चीज है, बाजी मारना नहीं। हमारा अधिकार कर्त्तव्य पालन करने का है, करा लेने का नहीं।

बुराई भलाई के अभाव की कल्पना है। भलाई के अभाव या कमी को ही बुराई कहते हैं। यह वह भलाई है जो बढ़ती और यह बतलाती जाती है कि अभी भलाई को कितना रास्ता तै करना है। भले-बुरे का परस्पर विरोध मौलिक नहीं है। सच बात तो यह है कि सारा संघर्ष अच्छे और अधिक अच्छे

के बीच में, या बुरे और अधिक बुरे के बीच में होता है। भले-बुरे की कोई बात नहीं है, जो कुछ भेद है वह ऊँच-नीच, श्रेष्ठ-कनिष्ठ का है। दूसरों को बुरा बता कर अपने मत को भला सिद्ध करने का प्रयत्न हमें छोड़ देना चाहिये। विरोधी को निकम्मा समझ कर त्याग देना ठीक नहीं, बल्कि उसके साथ सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिये और उसकी बात समझ लेनी चाहिये। अपने चिरपोषित आदर्शों के विरोध का प्रसन्नतापूर्वक सामना करना बड़ा कठिन हो सकता है, पर यहीं अध्यात्मप्रवण जीव बाजी मार ले जाता है। जो कुछ है और जो कुछ होना चाहिये इन दोनों के बीच में जो विरोध है उससे आध्यात्मिक पुरुष बगावत नहीं करता। उसका जीवन को स्वीकार करना केवल इतना ही नहीं है कि जीवन जैसा कुछ है उसे वह अपना लेता है, बल्कि ऐसे जीवन को जो लोग अस्वीकार करते हैं उन्हें भी वह अपना लेता है जो लोग एक प्रकार के जीवन के लिये दूसरे प्रकार के जीवन के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं उनकी सी क्षुब्धता और निराशा उसमें नहीं होती। उसके लिये असहिष्णुता अधर्म है। जो सचाई और निःस्वार्थता वह अपने अन्दर मानता है वही सचाई और निःस्वार्थता वह अपने विरोधी के अन्दर भी जान कर उसका सम्मान करता है। जो धर्म राष्ट्रीय ईश्वर अथवा प्रतियोध

लेनेवाले रण-देवता को नहीं बल्कि विश्वव्यापक प्रेम को परमेश्वर मानता है, उसकी यही सीख होती है कि विरोध के सामने धीर और क्षमाशील बनो और विरोध-विद्वेष के वशीभूत होकर जो लड़ने-झगड़ने आते हैं उनके साथ मृदुता और आध्यात्मिकता का व्यवहार करो। हम लोग सहज ही यह मान लेते हैं कि जो हमारे धर्म का अनुयायी नहीं है वह नास्तिक या काफिर है, अथवा हम जो कुछ मानते हैं उसे जो नहीं मानता वह या तो मूर्ख है या बदमाश है। किसी का भी जो मत बना वह क्यों बना और हम लोगों के उद्वेग का कारण हुआ, इसे जानने में उस व्यक्ति की पृष्ठभूमि, स्वभाव, शिक्षा और ऐतिहासिक संस्कार-परम्परा को थोड़ा समझ लेने से बड़ी मदद मिलती है। दूसरे के विचार-बिन्दु को समझना न केवल उसे क्षमा कर देना, बल्कि उसका आदर करना और अन्त में उसे अधिक उदात्त सामञ्जस्य की ओर खींच लाना है। पुराणेतिहास में हिरण्यकशिपु और रावण अशुभ के अवतार हैं, पर फिर भी वे मोक्ष के अधिकारी माने गये। कारण, वीरत्व के सम्बन्ध में उनकी जो कुछ भावना थी उसके अनुसार अपने जीवन को बनाने के लिये उन्होंने दीर्घकाल तक निरन्तर महान् प्रयास किया था। रावण का महाभीषण

राक्षस रूप सीता को हर ले जाने और राम को जीतने की उसकी मोहान्ध दुश्चेष्टा, इन सबके भीतर, हम देखते हैं कि असंख्य मानस प्रतिक्रियाएँ और उदार प्रेरणाएँ भी हैं। सीता के व्यक्तित्व के लिये उसके हृदय में विलक्षण आदर था। राम का वह कट्टर शत्रु था, पर यह स्मरण रहे कि जख्म जितने गहरे होते हैं, क्रोध उतना ही गहरा होता है। मानव जाति के जिन नमूनों को जानने के लिये कोई कष्ट हमने नहीं उठाया उनसे अपने आपको श्रेष्ठ मान कर उस अहंमन्यता से फूल उठने की प्रवृत्ति को हम लोग त्याग दें। जीवन के निर्माण-कर्म की अनन्त अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रत्येक अभि-व्यक्ति का अपना एक खास मूल्य है। निर्माण-कर्म के हर नमूने का अच्छा रूप भी होता है और बुरा रूप भी। हम चाहे जो कुछ भी करें उसे करने का एक सही रास्ता होता है और एक गलत भी।

भगवान् के इस संसार में कोई भी चीज केवल बुरी नहीं है। आम तौर पर जिसे बुराई कहते हैं उससे सामना पड़ने पर क्रोध से भर जाना बहुत बुरा है। ऐसे प्रसङ्ग में चित्त की वृत्ति मान लेने और आगे बढ़ने की होनी चाहिये। जगत् में बुराई को प्रेम की पूर्ण सहानुभूति और समझ के द्वारा मान लेना होगा। यहाँ उदारता या क्षमाशीलता की कोई बात

नहीं, बल्कि न्याय की बात है जो उदारता और क्षमाशीलता, दोनों से बड़ी चीज है; यह वह न्याय है जो मनुष्य को, जो कुछ वह है उसी रूप में ग्रहण करता है और उसकी दुर्बलता और उसकी सबलता, दोनों ही अवस्थाओं में उसे प्यार करता और यह समझता है कि एक सुन्दर स्वभाव किस प्रकार बलात् वह चीज बना दिया गया जिसे संसार अपराध या पाप कहता है। हममें से कौन यह अभिमान कर सकता है कि अदन के उद्यान में ईव के आचार की अपेक्षा हमारा नैतिक आचार अधिक श्रेष्ठ है, यद्यपि हम जानते हैं कि उसके आचार का परिणाम कितना दुःखद हुआ। यदि हम लोग उस युग और परिस्थिति में होते तो यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि हम लोगों का आचरण उससे भिन्न होता। जगत् के सबसे बड़े दुराचारी मनुष्य का भी नेकनीयत होना मान लेना ही वह बुनियाद है जिसपर साहसिक सहयोग का स्थापित किया जाना संभव हो सकता है। अपने विरोधी के साथ बर्त्ताव का सबसे अच्छा तरीका यही है कि उसपर विश्वास किया जाय। सच्चे आध्यात्मिक पुरुष को न कोई भय होता है न क्रोध। यह किसी हिन्दू संन्यासी का नहीं बल्कि एक यूरोपीय तत्त्वज्ञ का कहना है कि जितना ही अधिक "कोई वीर पुरुष प्राकृतिक पदार्थों को" उनके असली रूप में "देख लेता

है" उतना ही अधिक वह यह अनुभव करता है कि भय और क्रोध के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है और उसका काम केवल इतना ही है कि वह "भलाई करे और आनन्दित हो"। परन्तु ऐसा जीवन, विनोबा स्वीकार करते हैं, "उतना ही कठिन है जितना कि वह दुर्लभ है।"

और फिर यह बात भी है कि ऊँचे से ऊँचे पेड़ भी स्वर्ग को स्पर्श नहीं करते। अंग्रेजी में इस आशय की एक लोकप्रिय चतुष्पदी है कि, "हम लोगों में जो सबसे बुरे हैं उनमें कितनी ही अच्छाई भी है और जो सबसे अच्छे हैं उनमें कितनी ही बुराई भी, इसलिये हममें से किसी को भी यह शोभा नहीं देता कि अपने आपको छोड़ कर बाकी सबकी बुराई करे।"

हम लोगों में जो श्रेष्ठ हैं उनमें भी कोई दुर्बलता, किसी प्रकार की पंगुता, कोई वंशानुगत दुर्वासना, कोई प्रमाद अथवा अपने गुणों का ही स्वाभिमान अतिरंजन जैसी कोई न कोई कमजोरी होती ही है। इन कमजोरियों का जोड़-तोड़ मिलाकर विश्वप्रकृति चाहे तो एक ऐसी स्थिति निर्माण कर सकती है जिससे नायक को अति दारुण दुःख का सामना करना पड़े। ऐसे दुःखदायी नायक हम लोगों को इसलिये प्रिय नहीं लगते कि उनकी-सी कमजोरियाँ हमारे अन्दर भी

है बल्कि इसलिये प्रिय लगते हैं कि दुर्दैव ने उनपर दुःख ढाहा है। कमजोरियाँ तो सबमें ही होती हैं, उनके उस दुःख का कारण हमें दुर्दैव ही दीख पड़ता है और उनके साथ हमारी सहानुभूति हो जाती है। ऐसे भी मनुष्यों के उदाहरण मौजूद हैं जिन्हें संसार ने तो असाध्य दुराचारी मान लिया पर उनमें सच्ची साधुता के कुछ ऐसे लक्षण भी दीख पड़े जिन्हें देख कर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। उत्तम भाव के पतन और अधम भाव के उत्थानवाले इन उदाहरणों से दूसरों की निन्दा करते हुए हम लोगों को बहुत ही सावधान होना चाहिये। बहुतेरों की दुराचारिता का कारण तो पेचीदा सामाजिक वृत्तियों से उत्पन्न हुआ वह वातावरण ही होता है जिसे हम सभी निर्माण करते हैं पर जिसके लिये हममें से कोई भी व्यक्तिशः और प्रत्यक्षरूप से जिम्मेदार नहीं है। बड़े बड़े कलाकार यह दिखलाते हैं कि किस प्रकार विफलता मात्र ही आथेलो की विफलता के समान अपरिहार्य है। इसके अतिरिक्त बहुतसे अनुचित कर्म बुद्धि के प्रमाद से होते हैं, हृदय की खराबी से नहीं। किसी को निन्दित या दण्डित करने से कोई लाभ नहीं होता। बाह्य रूप के अन्दर जो दुष्ट मनोवेग और बुद्धि के प्रमाद छिपे रहते हैं उन्हें संयत किया जा सकता है और धीरे धीरे उन्हें सीख दे दे कर जीवन

का नया मान और नयी व्यवस्था ग्रहण करने योग्य समुन्नत किया जा सकता है।[1]

परम्परागत आचारधर्म के विरुद्ध आजकल जो विद्रोह खड़ा हुआ है, वह विवेकबुद्धि के जागरण का लक्षण है। प्रायः कुछ थोड़े से ही लोग जो अपने कुसंस्कारों को त्याग कर उस असली चीज पर आ जाते हैं जिसकी महत्ता और उत्तमता प्रचलित रूढ़ियों से पूरे तौर पर प्रकट नहीं हो पाती, नीतिशास्त्र के विधानों को बदलवा देते हैं। आचारधर्म का प्रत्येक सुधारक रूढ़िवादी की दृष्टि में धर्मद्रोही बन जाता है, क्योंकि रूढ़िवादी चिन्ताशील बुद्धि की विलक्षण कल्पना की अपेक्षा प्रचलित आचार की महज मुर्दा अकर्मण्यता को अधिक पसन्द करता है। समाज में जो रिवाज चल जाता है वही आचारधर्म हो जाता है और जो कोई उससे भिन्न आचार का आग्रह करता है उसकी गिनती अनाचारियों में होती है। परन्तु वही नवीन आचार दूसरी पीढ़ी में जाकर अपना नैतिक मूल्य मनवा लेता और उसके भी बाद की पीढ़ी में परम्परागत आचार का अङ्ग बन जाता है। प्रत्येक समय में

---

१ संसार जिसे "पाप" कहता है उसका भी एक स्थान है। एक मध्ययुगीन सन्त ने पाप को "भाग्यवान्" कहा है, क्योंकि भागवत प्रेम के उद्घाटन का वही कारण हुआ।

ही कुछ लोग ऐसे होते हैं जो उस समय की जीवन-सम्बन्धिनी कल्पना के आगे बढ़े हुए होते हैं, कुछ उस कल्पना के पीछे डटे रहते हैं और बहुसंख्यक लोग उसके आस-पास रहते हैं। पहले बागी, दूसरे अपराधी और तीसरे सर्वसाधारण लोग होते हैं। उन्नति का सारा काम बागियों द्वारा ही होता है। रूढ़िवादी अपरीक्षित सूत्रों से ही सन्तुष्ट रहते और अपना समय दूसरों को बदनाम करनेवाले सच्चे-झूठे किस्सों के कहने-सुनने का आनन्द लेने में बिताते हैं। इन किस्सों से प्रायः जीवन की वह असलियत जाहिर होती है जिसका किसी सरल सूत्र के द्वारा निर्वचन नहीं हो सकता। यहूदियों के फारिसी सम्प्रदायवाले विधिपालन में बड़े आचारनिष्ठ और अपने ऊपर होनेवाले अन्याय से वैसे ही उदासीन थे; पर उनकी इस कीर्त्ति से कोई विशेष उपकार नहीं होता। यन्त्रवत् विधि-पालन में जीवन बिताना पथरीली चट्टानों पर भटकते रहना है जहाँ श्री-शोभा या मृदुता की कोई हरियाली नहीं। आचार की विधियों का श्रद्धापूर्वक पालन निस्सन्देह अच्छा है, पर इस विषय में आततायी होना दुराचार है। आचारशास्त्र हमारा पथप्रदर्शक, पथ का दीपस्तम्भ है, पर उसी को यदि हम ईश्वर मान लें तो वह हमारी बुद्धि के नेत्रों को अन्धा बना देगा और दुराचार में ढकेल देगा। यदि आचारशास्त्र की

लीक पीटते रहना ही धर्म मान लें तो हम कोई उन्नति नहीं कर सकते। जीवन आगे बढ़ते चलने का एक साहसिक कर्म है, पहले से बँधा-बँधाया कार्यक्रम नहीं। यह वह खेल है जिसके नियम कभी यथावत् नहीं जाने जा सकते। कोई तात्त्विक विधान उत्तम जीवन जीने में सहायक नहीं हो सकते, सहायक हो सकती है केवल वह जीती-जागती इच्छा ही जो विकासक्रम के लक्ष्य और जगत् के उद्देश्य के साथ सहयोग करनेवाली हो। अभी जो सार्वत्रिक अशान्ति दीख पड़ती है, इसमें ज्ञान की वृद्धि और नैतिक आचारों तथा सामाजिक संस्थाओं के इतिहास का बुद्धिपूर्वक अनुशीलन ही कारण है। बहुतसे शिक्षित अब यह अनुभव कर रहे हैं कि हम लोग एक ऐसी विवेक-पद्धति को मान रहे हैं जिस पर हमारा विश्वास नहीं और ऐसे कर्त्तव्यों का पालन कर रहे हैं जिनका हमारे लिये कोई अर्थ नहीं। सदाचारी जीवन की वर्त्तमान कल्पनाओं का वे विरोध करते हैं और इनसे अधिक अच्छे आचारों का प्रवर्त्तन कराया चाहते हैं। यदि किसी ऐसे नवीन आचार से समाज के भाव और संस्कार काँप जायँ तो यह उस आचार के विरुद्ध कोई दलील नहीं है। यह जो कहा जाता है कि आधुनिक काल के हम लोग अपने पूर्वजों की अपेक्षा आचरण में बहुत ढीले-ढाले हैं, इसे सर्वथा सत्य या अपने लिये

अपकीर्त्तिकारक मानने का कोई कारण नहीं है। बहुतसी चीजें ऐसी हैं जिन्हें उन्होंने सही माना था, पर अब हम लोग उन्हें गलत करार देते हैं। हम लोगों की रुचि बदल गयी है। कोई समय था जब अपनी पत्नियों को बेचना बुरा नहीं समझा जाता था। गुलामों के सूली पर चढ़ाये जाने से सहृदय सेनेका के भी चोट नहीं लगती थी। सीजर ने गाल देश पर जो चढ़ाइयाँ कीं उनसे हमारा वर्त्तमान महायुद्ध किसी प्रकार कम भयानक तो नहीं रहा; पर सीजर जिस मजे से युद्ध का समर्थन कर सकते थे उस मजे से हम लोग तो युद्धों का समर्थन नहीं कर सकते। सदाचार के क्षेत्र में प्रकाश धुँधला है, तारे एक जगह स्थिर नहीं। पर एक विचार से, हम लोग अपने इतिहास के कुछ पूर्वतन समयों के लोगों की अपेक्षा निश्चय ही निकृष्ट हैं। हमारी कठिनाई यह नहीं कि हम किसी नमूने को सामने रख कर उसका अनुकरण नहीं करते, बल्कि यह है कि हम लोग अपने आपको बहुत ही दुर्बल और अयोग्य समझते हैं। हमारे जीवन और चिन्तन में एक निःसारता का-सा भाव रहता है। यदि वर्त्तमान पीढ़ी को इस महादोष से मुक्त करना अभीष्ट है तो हम लोग वीरत्व की भूमिका पर कर्म करना सीखें, चाहे उस कर्म की दिशा कुछ भी हो। वीरत्व दृढ़ता और तपस्या, संयम और त्याग,

मानवता और सहिष्णुता के बिना, अर्थात् संक्षेप में, परिस्थिति को ग्रहण कर लेने और साहस के साथ आगे बढ़ने के विधान का पालन किये बिना सम्भव नहीं।

पारिवारिक जीवन

मानव जीवन के भौतिक, प्राणिक, मानसिक, भाविक, लालित्यिक और नैतिक, सभी विभिन्न अंग पवित्र हैं, क्योंकि दिव्यतर जीवन की ओर हमारी उन्नति के ये सभी साधन हैं। शरीर की उपेक्षा करने या प्राणों को सुखा डालने का कोई प्रयोजन नहीं है। अपनी प्रकृति के जो जो अंग हैं उन सब-को, उनके जो परम उन्नत रूप हो सकते हैं उन रूपों में, सु-समृद्धि और सर्वाङ्ग सामञ्जस्य के साथ व्यक्त करना हमारा उद्देश्य होना चाहिये। काम-वासना को हमें वह चीज समझकर ग्रहण करना चाहिये जिससे हम विवाह-संस्कार के द्वारा अपना समुन्नत जीवन निर्माण कर सकते हैं। सुषुप्त या अचेतन मन की वासना के भड़काये उसीके अधीन हो जाना उसके वास्त-विक रूप और अभिप्राय को मिटा डालना है, केवल एक प्रकार की अव्यवस्था और अराजकता है।

जो विवाह सब प्रकार से पूर्ण होता है उसमें दाम्पत्य-सहवास परम पवित्र होता है, और वह आन्तरिक शोभा का बाह्य

लक्षण होता है। सच्चा प्रेम तभी होता है जब दोनों का परम लक्ष्य एक हो, दोनों उस एक ही लक्ष्य के साधक हों और दोनों के दो जीवन एक होकर उसपर उत्सर्ग हों। पति और पत्नी एक दूसरे को वरण करते हैं और दोनों परस्पर की विषमताओं को मिलाकर एक सुन्दर सम्पूर्ण जीवन निर्माण करते हैं। दोनों को अपना सम्बन्ध सच्चा बनाने का एक होकर पूर्ण प्रयत्न करना पड़ता है और इस प्रयत्न में जो जो कठिनाइयाँ आती हैं उन सबका प्रसन्नतापूर्वक सामना करना पड़ता है। इस प्रयत्न में वे तभी सफल हो सकते हैं जब वे धैर्य और संयम, क्षमा और उदारता के अभ्यासी और सदा सावधान हों। मनुष्य के अन्दर जो दुर्बलताएँ हैं, मनुष्य की बुद्धि उनका बहुत कुछ संस्कार करती है, पर यह संस्कार कभी पूरा नहीं होता। मनुष्य अपनी जागती हुई सुध-बुध की अवस्था में भी पूर्ण बुद्धियुक्त प्राणी उतना नहीं जितना कि सतत बुद्धियुक्त होने का प्रयास करनेवाला प्राणी है। विवाह जीवन का वह रूप है जिसमें सुख भी है और उतना ही दुःख भी। विवाह-विच्छेद जो पाश्चात्य देशों में इतने हो जाया करते हैं उनका कारण यही है कि लोग गलती से यह मान लेते हैं कि विवाह एक बड़े ही आनन्द की चीज है और जब उस आनन्द में खलल पड़ता है तो यह सोचने लगते हैं कि ऐसे विवाह-बन्धन को तो तोड़ ही

डालना चाहिये। इन विच्छेदों का कारण सामान्यतः पति या पत्नी का व्यभिचार और दाम्पत्य-प्रेमविरोधी आचरण नहीं बल्कि स्वभाव और रुचि का ही परस्पर-वैषम्य हुआ करता है। यदि हम इस बात को समझ लें कि विवाह अनेकों विघ्न-बाधाओं और दीर्घकालीन प्रयत्नों में से होकर दो व्यक्तियों की एक साथ उन्नति करनेवाली एक संस्था है, तो जो कोई कठिनाई हमारे सामने आयेगी उसे हम और भी अधिक प्रयास करने का एक अवसर जानेंगे। विवाह की पूर्णता अपने उद्देश्य की परम सिद्धि है। इसके लिये यह आवश्यक है कि पति-पत्नी में परस्पर चाहे कितनी नासमझी या अनबन हो, समय समय पर चाहे जैसा क्रोध आ जाय या क्षोभ हो जाय, स्वभाव की विचित्रता और किसी प्रकार की विषमता, बीच में आकर खड़ी हो जाय, और तो क्या मैं यहाँ तक कहूँगा कि परस्पर पाप भी हो जाय तो भी दोनों को एक दूसरे के साथ लगे ही रहना चाहिये। अलग होना, तलाक देना हर हालत में नीचे गिरना है। तलाक देने पर उतारू वे ही लोग होते हैं जो दुर्बल हैं, अविकसित आत्मा हैं, जो आरोग्य और वैयक्तिक सुख को ही मानव जीवन का ध्येय समझते हैं, आन्तरिक उन्नति और पूर्णता को नहीं। विकसित आत्मा: गहरा घाव लगने पर भी दुःख को एक उन्नायक वस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं, नैतिक

बलहीनों का यह काम नहीं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने अधिक क्षमाशीलता दिखायी है। वे जिन्हें प्यार करती हैं उनके दोषों और अपराधों को भी भूल जाती हैं। उनके अन्दर कोई आध्यात्मिक माधुर्य है जिसे हमें भी प्राप्त करना चाहिये।

बच्चों का होना उच्चतर जीवन में बड़ा सहायक होता है। बच्चों के लिये माता-पिता के हृदय में जो सहज प्रेम होता है वह बच्चों के भाव और अनुभव के साथ मिल जाने से ही प्रकट होता है। कुछ समय से यह एक बड़ी ही विचित्र अवस्था उत्पन्न हुई दीख पड़ती है कि माता-पिताओं को अपने बच्चों की कोई परवा नहीं, वे उनकी सर्वथा उपेक्षा करते और उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों को भुलाकर अपनी ही मौज में लगे रहते हैं। यह भी सुनने में आया है कि बच्चों के लिये सरकारी पालन-गृह बने हैं। पर ऐसे पालन-गृहों से लोग कभी सुखी नहीं हो सकते। बच्चों के विविध अंगों की उन्नति के लिये मातृ-पितृ-स्नेह और बोध की आवश्यकता होती है। माता-पिता को स्थानापन्न करनेवाली और कोई चीज नहीं हो सकती। माता-पिता का आध्यात्मिक जीवन जितना ही प्रगाढ़ होगा उतना ही कम वे अपनी जगह किसी दूसरे को देना चाहेंगे। विवाह-विच्छेदों के आँकड़ों से यह मालूम होता है कि ऐसे ही विवाहों

के विच्छेद होते हैं वहाँ बच्चे नहीं होते। अविवाहित स्त्रियों और पुरुषों में भी बच्चा होने की लालसा होती है और जब तक यह लालसा मौजूद है तब तक विवाह का अनिवार्य बंधन का विलोप नहीं हो सकता है।

आधुनिक क्रान्ति की यह चेतावनी है और यह बिलकुल सही है कि ऐसा सदाचार जो अवसर पाते ही सब के बन्धन से निकल भागना चाहता हो और किसी तरह के बन्धन से ही डरता हो, जिसका आधार अज्ञान और जहाँ दबाव हो वह कोई सदाचार नहीं है। जिस जीवन का आधार ज्ञान है वह उस निर्दोषिता से अच्छा है जिसका आधार अज्ञान है। आधुनिकों का यह आग्रह ठीक है कि एक-पतिव्रत या पत्नीव्रत निश्चय ही एक महान् आदर्श है पर यह विचार करने की बात है कि जिस ढंग से लाखों स्त्रियों को दाम्पत्य-सुख से वंचित होना या वेश्यावृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है वह व्यवहार में कहाँ तक ठीक है। बात यह है कि विवाह-सम्बन्ध के नियमों की अति कठोरता उतनी ही बेजिम्मेदारपने की बात है जितनी नियमों की शिथिलता। स्त्रियों और पुरुषों के लिये एकसा ही आचारदण्ड या नैतिक विधान होने के हेतु आचार का मान नीचा करना नहीं बल्कि ऊँचा करना जरूरी है। यह नहीं कि स्त्रियाँ नीचे गिरकर पुरुषों के बराबर हो जायँ, बल्कि

यह हो कि पुरुष ही ऊपर उठकर स्त्रियों की बराबरी में आ जायँ। आधुनिक ज्ञान ने स्त्रियों को उन सब दुर्दशाओं से मुक्त कर दिया है जो युग-युगान्तर से वे अब तक भोगती चली आयी थीं, पर उनके ये नव-स्वातंत्र्य और अभिनव ज्ञान, चाहे वे कितने ही भयानक हों, हम लोग जब तक वस्तुस्थिति का श्रद्धा-विश्वास और साहस के साथ सामना करते रहेंगे तब तक, हमारा विनाश नहीं कर सकते। यह बिल्कुल सही है कि इस एक जमाने से दूसरे जमाने में पहुँचने की अवस्था में कुछ अनिष्ट परिणाम हो सकते हैं। स्कूलों में पढ़नेवाली आजकल कन्याएँ अपने दाम्पत्य-सुख के विकास के विषय में पिछले समय की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक दक्ष हैं। आधुनिकता की उनकी बातें सुनकर आचार-निष्ठ कर्मठों के हृदय दहल जाते हैं। जिन कालेजों और स्कूलों में बालक-बालिकाओं की एक साथ पढ़ाई होती है वहाँ आचार भ्रष्ट करनेवाली अनेक उत्ते-जनाएँ होती हैं।

स्त्रियों की अशान्ति का असली कारण यही है कि उन्हें वैसा कोई कार्य करने को नहीं मिलता जिसमें उनके समय और सामर्थ्य का सदुपयोग हो। बायरन कवि की यह उक्ति है कि "पुरुष का प्रेम पुरुष के जीवन की एक अलग-सी चीज है, पर स्त्री का तो वह सारा जीवन ही है।" हम सभी यह सम-

मानते हैं कि स्त्री का स्थान उसका घर है, पर घर उजड़ते जा रहे हैं। निजन्मशीन के कारण घर का काम-धन्धा कम हो गया, घर की जगह होटल ने ले ली, इससे बहुतसी ऐसी व्यक्ति बना हो जाती है जिसके लिये कोई काम नहीं रहता। पति अपने काम में, पहले की अपेक्षा बहुत ही अधिक, व्यस्त रहता है और स्त्री का समय काटे नहीं कटता। कोई ऐसा काम न होने से कि जिसमें उसका मन लगता, वह दुःखी और वात्स्याविभ्रम्त हो जाती है; उसका जीवन निरर्थक, निरुद्देश्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि वह अपने रुपये और अवकाश के द्वारा अपना खाली समय खेल-खिलवाड़ या मूर्खता, मौज और अपनी इच्छा की तृप्ति से पूरा करती है तो इसके लिये हम उसे दोषी नहीं कह सकते। उसका जो काम पहले था वह जाता रहा और नया कोई काम अभी तक उसके हाथ में नहीं आया है। विवाहित जीवन अब वह जीवन नहीं रहा जो स्वयं पूर्ण सम्पन्न जाय या जिसमें सारा जीवन लग सके। जब विवाहिता स्त्रियों का यह हाल है तब उन स्त्रियों का और भी कितना बुरा हाल होगा जो अविवाहिता हैं, सन्तान-रहित विधवाएँ हैं अथवा व्यभिचारवान समाज की ऐसी विधवाएँ हैं जिनके बच्चे बालिग अथवा विवाहित होने पर उन्हें त्याग देते हैं। सारे झगड़े की जड़ यही है कि स्त्रियों

के करने के लिये पर्याप्त काम नहीं है। रिक्त जीवन की नीरसता उन्हें अप्राकृतिक मार्ग में लिये जा रही है और उचित यही है कि उन्हें उनके स्वभाव और रुचि के अनुकूल कार्य में लगाया जाय।

विषयानन्द के लिये आधुनिकों के चित्त में जो अत्यधिक आदर है वह ठीक नहीं है। जो क्रिया मन की लहर से उठती पर बुद्धि की विवेक-धारा से नहीं मिलती वह जहाँ के तहाँ ही लौट आने, पशु के पशु ही बने रहने की एक क्रियामात्र है। संयम का जो स्थान है उसका अधिकारी विवेक है, उस-पर मनोवेग को बैठने न देना चाहिये। आत्माभिव्यक्ति और इन्द्रियासक्ति दोनों एक चीज नहीं हैं। यह कहना, तत्त्वतः तो, बिलकुल सही है कि हम लोगों को स्वतंत्र रहना चाहिये, किन्हीं ऐसे नियमों से अपने आपको न बाँध लेना चाहिये जो अन्दर से ही न उत्पन्न हुए हों; पर ऐसा करने की अनुमति असंस्कृत बुद्धिवाले मनुष्यों को दे देना उन्हें महाविपद् में झोंक देना है। अन्दर के नियम बाहरी नियमानुवर्त्तन से उत्पन्न होते हैं और इन बाहरी नियमों को न मानने की स्वतंत्रता उन्हीं लोगों को प्राप्त होती है जो उनकी आवश्यकता की अवस्था से ऊपर उठे रहते हैं। जब तक कोई व्यक्ति उस स्वतंत्रता को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक तो उससे बाहरी नियमों का

अभ्यास कराकर उसकी सहायता करनी ही पड़ती है। नवयुवक और अन्य अविकसित प्राकृत बुद्धिवाले मनुष्य इस योग्य नहीं, कि आप ही अपने कानून बनकर क्षणिक विषय-वासना के वश होकर चाहे जिससे जीवन का सम्बन्ध जोड़ लें। विवाह के स्वरूप और उद्देश्य के सम्बन्ध में मिथ्या भावनाओं से प्रेरित होकर, विवाह को एक बहुत मामूली चीज समझकर, बिना सोचे-समझे विवाह करना-कराना कदापि श्रेयस्कर नहीं। ऐसे भी विवाह अब होने लगे हैं जो एक घंटे से अधिक नहीं टिक पाते, पर परम आधुनिक लोग उसे भी जब 'जायज' कहते हैं तब विवाहसम्बन्धी उनकी कल्पना पर तरस आता है। आज-मायशी शादियाँ भी होने लगी हैं, पर आजमायशी शादी बिना ब्याह के ही किसी को अपने घर में रख लेने का दूसरा नाम है। इन सब प्रकारों में पूर्व-परंपरा की ही अवहेलना नहीं बल्कि जाति के भावी कल्याण की भी उपेक्षा है। विवाह का एकमात्र उद्देश्य आध्यात्मिक अनुभूति नहीं बल्कि इन्द्रियों का विषय-भोग बन गया। नियमानुशासन के विरुद्ध खड़े होने-वाले इस अभिनव उत्साह और विद्रोहवृत्ति के नशे के पहले गुलाबी रंग में क्या स्त्री और क्या पुरुष बड़ी खुशी से इन्हीं के अधीन हो जा सकते हैं, पर जब वे समझने योग्य होंगे तब यह अनुभव करेंगे कि यह चीज दाम्पत्य-सुख की दृष्टि से

या अध्यात्म की दृष्टि से, किसी भी दृष्टि से उनके फायदे की नहीं है।

आर्थिक सम्बन्ध

किसी चीज का यदि दुरुपयोग होता हो तो उसका यह मतलब तो नहीं है कि उसका सदुपयोग नहीं हो सकता। विज्ञान हमें बराबर वह शक्ति और वे यन्त्र दे रहा है जिनका यदि बुद्धिमानी के साथ उपयोग किया जाय तो उससे हम लोगों के लिये अपनी प्रकृति के बड़े बड़े तूफ़ानी पहलुओं से अपने मानवोचित गुणों की रक्षा करना सम्भव हो सकता है। *विज्ञान सारे मानव समाज को सुसंस्कृति और सुख-शान्ति के* वैसे अवसर दिला सकता है जैसे गुलामों के होने से प्राचीन यूनानियों को प्राप्त थे। किसी का धर्म यह नहीं बतलाता कि हाथ का कता-बुना कपड़ा मिल के कपड़े से अच्छा होता है या बैलगाड़ी मोटरगाड़ी से श्रेष्ठ है। केवल हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि हम मशीनों के गुलाम न बन जायँ। इन मशीनों का ऐसा दुरुपयोग न करना चाहिये कि जिससे मनुष्यों को उन अन्धेरे तहखानों और धूमाच्छादित नगरों में रहना पड़े जहाँ से हरे खेतों और नीले आकाश की कोई झलक तक नहीं मिलती।

परिश्रम और अवकाश (मिहनत और फुर्सत) में हम लोग जो भेद करते हैं उसका कारण यही है कि हम-लोग अपने काम में अपना मन नहीं लगाते। मन का वह पूर्ण और सक्रिय योग नहीं होता जो किसी भी कर्म को आनन्ददायक बना देता है। हम समाज को उसके जीवन की आवश्यक वस्तुएँ जुटा देने का काम उद्वेग के साथ करते हैं। हमें चाहिये यह कि हम काम को आनन्ददायक बनावें और काम करनेवाले उन काम के सम्बन्ध के सारे प्रबन्धों को उत्तम बनाने के इच्छुक हों।

जिन आवश्यकताओं से प्रेरित होकर मनुष्य अपना बर्ताव उनके अनुकूल बना लेता है वे आवश्यकताएँ या तो भौतिक और आर्थिक होती हैं जैसे धन, इन्द्रिय-सुख, पद और अधिकार, अथवा सामाजिक और आध्यात्मिक होती हैं जैसे सचाई, ज्ञान, पक्षपात-राहित्य, सहानुभूति, समझ लेने की वृत्ति, न्यायकारिता और सेवाभाव। हम जो काम करते हैं उसमें हमारी केवल वह वणिक्वृत्ति ही न होनी चाहिये जो भौतिक मूल्य के विचार से नियंत्रित होती है, बल्कि हमारे अन्दर यह भाव होना चाहिये कि हम जो काम कर रहे हैं वह समाज को उसकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करके प्रसन्न करने के लिये कर रहे हैं। भिन्न-भिन्न कर्मी एक दूसरे से खिलाना छोड़ अपने

अन्दर यह भाव जगायें कि हम सब एक ही जीवित समाज के अंग हैं। एक दूसरे को हम लोग जो नहीं जान पाते यह हमारा दोप है और इसे हटाना होगा, और ऐसा प्रयत्न करना होगा कि जिससे एकता का अभी की अपेक्षा अधिक बलवान् और व्यापक भाव, क्या व्यक्ति और क्या समुदाय सबके अन्दर भर जाय। भिन्न-भिन्न कर्माङ्गों का सम्पादन करनेवाले ये शरीर भिन्न-भिन्न हैं पर इनके अन्दर इन्हें चलानेवाला भाव एक ही होना चाहिये और सब लोगों को इस भावना से अनु-प्राणित होना चाहिये कि हम सबका जीवन एक दूसरे पर अवलम्बित है।

धन ही सब कुछ नहीं है। उत्तम से उत्तम वस्तु खरीदने की सामर्थ्य धन में नहीं है। चित्त की प्रसन्नता, सन्तोप, सद्भाव आदि सबकी परम प्रिय सम्पदा है पर वह धन से नहीं खरीदी जा सकती। भौतिक उपयोगिता ही जीवन की एकमात्र सार वस्तु नहीं है। कारण मनुष्य केवल मजदूर या धन के उत्पादक ही नहीं हैं। वे मनुष्य हैं और उनके हृदय सौन्दर्य के स्नेह और बुद्धि के संस्कार जैसे मानवोचित गुणों से आकर्पित होते हैं। जब तक हमें मन की शान्ति और मुक्ति नहीं प्राप्त होती तब तक बाह्य अभ्युदय कुछ काम नहीं देते। हम लोग जो इस चिन्ता में पड़े हुए हैं कि किस

तरह मनुष्य के पार्थिव क्लेश दूर हों और पार्थिव सम्पदा से सुखी हों; इससे यही होता है कि हम लोग अभी की कुछ संस्थाओं को तथा आधुनिक जीवन के यान्त्रिक ढाँचे के बाहरी अंगों को ही बदलते रहने के सिवाय और कुछ नहीं कर पाते। पर सामाजिक संस्थाओं और यान्त्रिक संघटनों के सुधार मात्र से कुछ भी नहीं बन सकता यदि मनुष्यों की गुणवत्ता और गुणवान् मनुष्यों की संख्या न बढ़ायी जा सके। विज्ञान हमें जीवन की गन्दी और सड़ी हुई हालत से छुड़ाता और बहुत-सा अवकाश दिलाता है। परन्तु इस अवकाश का ठीक तरह से उपयोग करना हमें सीखना चाहिये। उचित शिक्षा इस काम में हमारी मदद कर सकती है।

राजनीति

प्रजातन्त्र को यदि ठीक तरह से समझा जाय तो यह प्रजा या समाज का अपना आप ही शासन करना है। किसी प्रकार की सरकार के द्वारा शासन का कम से कम होना उत्तम शासन का लक्षण है। जो लोग मानव प्रकृति को स्नेहात्मक दृष्टि से नहीं देखते वे अधिकाधिक सरकारी नियन्त्रण चाहते हैं। मानव प्रकृति में मानवोचित सरलता और पाशविक अधनता

दोनों हैं, पर यदि हम अधमता की अपेक्षा उत्तमता के कायल हों तो बाह्य शासन-यन्त्र को हम अपनी प्रकृति का प्रतिबन्धक नहीं मान सकते। सब प्रकार के शासन आत्म-शासन के साधनमात्र हैं।

प्रजातन्त्र के विषय में यह कहा जाता है कि इसमें सर्वसाधारण की इच्छा सर्वोपरि मानी जाती है, पर सर्वसाधारण की इच्छा वाणिज्य-करपध्दति का सुधार या भारत का शासन-विधान जैसे विशिष्ट व्यावहारिक-ज्ञानसापेक्ष प्रश्नों का कोई निर्णय नहीं कर सकती। कई देशों में प्रजातन्त्र जो यशस्वी हुआ उसका कारण यही है कि वह यथार्थ प्रजातन्त्र नहीं है। प्रजातन्त्र अभी तक केवल एक आदर्श रूप से सामने है। इसे जब हम व्यवहार के मौलिक सिद्धान्त के रूप से ग्रहण करते हैं तब हमारा यही अभिप्राय होता है कि मनुष्यमात्र के कुछ ऐसे जन्मसिद्ध अधिकार हैं जिनका आदर सदा सर्वत्र सब व्यवहारों में करना होगा चाहे व्यवहार का प्रसङ्ग स्त्रियों के सम्बन्ध का हो या पुरुषों के सम्बन्ध का। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व एक पवित्र वस्तु है और ऐसी स्वतन्त्रता सबके लिये होनी चाहिये कि जिसमें वह अपनी प्रकृति को अपने ढङ्ग से विकसित कर सके। प्रत्येक मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार अपनी पूर्ण उन्नति करने का अवसर मिलना चाहिये। प्रजातन्त्र का यह अभिप्राय तो कदापि नहीं होता कि

सब लोग, चाहे उनके सहज गुण, विशेष भाव या वैयक्तिक प्रयत्न कुछ भी हों, तत्वज्ञान और साहित्य, कला और विज्ञान, कानून और शासन-विधान जैसे विषयों के एकसे ही विचारक बनने की योग्यता रखते हों। आइन्स्टीन के परस्पर गुरुत्वाकर्षण-वाद का निर्णय सर्वसाधारण जनता का वोट लेकर नहीं किया जा सकता। मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है पर इसका कोई जिम्मा नहीं है कि वह सदा बुद्धि से ही काम लेगा या सब विषयों का विचार यथावत् करने में अपनी बुद्धि लगा सकेगा। प्रजातन्त्र का यह अर्थ नहीं है कि हम सब बराबर हैं। मनुष्य देह और बुद्धि से विषम ही जन्मे हैं। सदा ही वे असम रहेंगे। कोई मोटे होंगे कोई दुबले-पतले, कोई लम्बे कोई नाटे, कोई बड़े कोई छोटे। ये भेद कभी मिटनेवाले नहीं हैं। यह भी सच है कि कोई भी सामाजिक संस्था सबको सर्वथा समान अवसर नहीं दे सकती। कारण, अवसर का मिलना जिस सामाजिक स्थिति में हम होते हैं और उसके साथ हमारा जैसा सम्बन्ध होता है, उसपर निर्भर करता है। फिर भी, अवसर की समानता किसी भी समाज के लिये एक बहुत अच्छा आदर्श है। हमें जनता का अज्ञान और दारिद्र्य दूर कर कला और साहित्य को वह रास्ता देना होगा जिससे वे अपने गंभीरतम मूल्यों सहित जनता के हृदयों तक पहुँच सकें।

हमें देश की सांस्कृतिक मनोभूमि को ऊँचा उठाना होगा और हर किसी की इस प्रकार सहायता करनी होगी कि वह अपने आपको जाने और भाव, विचार और इच्छा की एकता को प्राप्त हो। प्रजातंत्र कोई स्वाभाविक स्थिति नहीं बल्कि वह ध्येय है जिसे प्रयत्न और शिक्षा के द्वारा प्राप्त करना होगा। अभी उसकी शासनव्यवस्था में जो दुर्बलता है वह वोट देनेवालों की वैयक्तिक ईमानदारी और समझदारी की कमी के कारण से है। वोटर ज्यों ज्यों अधिक समझदार होंगे और नेता अधिक ईमानदार, त्यों त्यों प्रजातन्त्र अधिक सफल होगा। आदर्श की पूर्णता की दृष्टि से प्रजातंत्र में आज चाहे कितनी भी कमी हो पर इसमें सन्देह नहीं कि कुछ थोड़ेसे अल्पकालीन प्रजारञ्जनकारी राजतंत्रों को छोड़ अन्य सब भूतकालीन सर्वविध राज्य-प्रबन्धों की अपेक्षा प्रजातंत्र राज्य-पद्धति श्रेष्ठ है। इससे शान्ति और स्थिरता बढ़ती है, क्योंकि राज्य के प्रबन्ध में वोटरों का जो कार्य-भाग है उससे सब प्रकार की प्रत्यालोचना और असन्तोष का निकास हो जाता है।

सार्वराष्ट्रीय सम्बन्ध

समस्त मानव जाति का एक ही प्रजातन्त्र राज स्थापित हो इस कल्पना का मूर्तिमान् होना केवल चिकनी-चुपड़ी,

है कि इनका दुनियाँ की सतह से मिट जाना न सही पर सदा दासत्व में रहना तो उचित ही है। कारलाइल का यह तीक्ष्ण वाग्बाण कि राष्ट्र कुत्तों की तरह एक दूसरों के समीप उनके लज्जाजनक अंगों को ही सूँघने के लिये जाया करते हैं, आज भी, मैं समझता हूँ कि, सही है। संसार की शान्ति हस्ताक्षर किये हुए दस्तावेजों और कागजी शर्तनामों, आर्थिक सन्धियों और राजनीतिक गुटबन्दियों पर उतना निर्भर नहीं करती जितना कि संस्कृतिसम्पन्न मनुष्यों के मनों और विवेक-बुद्धियों के एकत्र होने तथा ज्ञान और आदर्श के बीच व्यवहार के बढ़ने पर निर्भर करती है। जब तक अपने पड़ोसियों के साथ हमारे भेदभाव हैं, जब तक पार्थिव उन्नति और व्यापारिक समृद्धि के हम उपासक हैं तब तक हमारे लिये मानव प्रकृति का सम स्पन्द अनुभव करना तभी सम्भव हो सकता है जब हम हृदय के उन खजानों के पास, मन-बुद्धि के उन आनन्दों के पास जायँ जो बाँट करने से घटा नहीं करते। उन्हींसे आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता की तीव्रता घटेगी और हम उस समझ और सहानुभूति की ओर झुकेंगे जिनसे ही संसार सुरक्षित बना रह सकता है।

विचार और भाव की एकता को बढ़ाने के साथ साथ, युद्ध के सम्बन्ध में राष्ट्र की मनोवृत्ति का रूप बदलना भी

आवश्यक है। जो संशयात्मा यह कहता है कि मानव जाति सदा से युद्ध का सहारा लेती रही है और सदा लेती रहेगी, उसकी बात पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं है। नर-मांस-भक्षण का समर्थन करनेवाले लोग भी ऐसा ही कहा करते थे—मानव जाति सदा से नरमांस खाती आयी है और सदा खाती रहेगी। दासत्व और द्वन्द्वयुद्धों के खेल जैसी प्रथाओं के समर्थक भी ऐसी ही बातें कहा करते थे। मनुष्यों के मन धीरे धीरे ही बदले जा सकते हैं। शान्तिवाद अथवा सर्वराष्ट्रवाद बेतार के तार या टेलीफोन जैसा वैज्ञानिक आविष्कार नहीं है जिसे संसार तुरत ग्रहण कर ले। यह बड़ा कोमल पौधा है, इसे बहुत काल तक पालना-पोसना पड़ता है। धैर्य और संयम, परस्पर परिचय और आदर इसके बढ़ने के लिये आवश्यक होते हैं। स्तन्य-पान के समय से ही बच्चों के मनों पर यह संस्कार कराना होगा कि सारी मानव जाति एक है। शान्ति की ओर उनके मनों का विकास कराना होगा और यह बतलाना होगा कि युद्ध का अर्थ है घर की फूट। जिस घर को ईश्वर और प्रकृति ने एक ही बना रखना चाहा था, युद्ध उसमें कृत्रिम द्वन्द्व और शत्रुभाव उत्पन्न करता है। ईसा ने कहा, "तुम सब लोग भाई भाई हो, फिर एक दूसरे के साथ अन्याय क्यों करते हो ?" मनुष्य की सहज पाशविक

झगड़ालू प्रवृत्ति पर उसकी चतुराई ने एक झूठी चमक चढ़ायी है, चीज वही है जिससे कुछ थोड़ेसे लोग लूट का माल हड़पते और बहुतों को दुःख पहुँचाते हैं। इसकी झूठी चमक का भेद खोलना होगा। हमें बलपूर्वक जीवन की पवित्रता के उदात्त भाव को धारण किये रहना होगा। हमें यह जानना होगा कि युद्ध हमें हिंसा का अभ्यास कराकर सर्वसाधारण मनुष्यों के हृदयों में उन कटु भावों को उत्पन्न करते हैं जिन्हें रोकने के लिये सभ्यता छटपटा रही है। हिंसा चाहे वह शारीरिक हो या और किसी प्रकार की, निम्नगा, तृष्णात्मिका प्रकृति से उत्पन्न होती है, उसमें कोई सार वस्तु नहीं है और वह उन सब चीजों का नाश करनेवाली है जो सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक हैं।

स्वदेशाभिमान जो स्वदेश की नीति को आदि से अन्त तक निर्द्धारित किये जाता है, एक प्रकार का सम्मोहन है और उससे मानव जाति के विशाल दर्शन की ओर से हमारी दृष्टि अन्ध हो जाती है। "शिकागो ट्रिब्यून" समाचार-पत्र का यह मूल मंत्र है—"हमारा देश! परराष्ट्रों के साथ उसके व्यवहार में वह सदा न्याय-पथ पर रहे; पर हमारा देश (यही मुख्य मंत्र है), चाहे वह न्याय-पथ पर हो या अन्याय-पथ पर।" राष्ट्र के अभिमान और स्व-सम्मान का भी एक

उचित स्थान है, उसे कोई अस्वीकार नहीं करता। जो चीज भयङ्कर है वह है राष्ट्रीय उद्दण्डता और असहिष्णुता। वह स्वदेशाभिमान मिथ्या है जो हर चीज को तरह दे देता और राष्ट्र को नैतिक विधान के ऊपर मानता है। राष्ट्र की सर्वोपरि एकमात्र सत्ता माननेवाला ऐसा निर्लज्ज राष्ट्रवाद जिसका यह सिद्धान्त है कि अपनी राष्ट्रीय सरकार कोई भूल नहीं कर सकती, उसकी कोई प्रत्यालोचना नहीं हो सकती और उसके छेड़े हुए सब युद्ध न्याय्य हैं, धर्मभ्रष्टता का सार है। तथापि आधुनिक जगत् का यही धर्म है जिसने अपने माननेवालों का इतना नाश कराया है। अन्य किसी धर्म ने मानव जाति का इतना निरर्थक और सार्वत्रिक बलिदान नहीं कराया। बोल-शेविकों का यह उद्देश्य है सारी मानव जाति दुःख से मुक्त हो चाहे किसी की कोई जाति या राष्ट्रीयता हो। वे रूस को एक राष्ट्र नहीं मानते बल्कि अपने धर्म के प्रचार का एक साधक यंत्र मानते हैं। जहाँ तक महज देशाभिमान के बल को वे इस प्रकार ढीला कर रहे हैं वहाँ तक वे ठीक रास्ते पर चल रहे हैं। लेसिंग का यह कथन है कि, "स्वदेशाभिमान एक वीरत्वपूर्ण दुर्बलता है जिससे दूर रहना ही अच्छा है।" बल की अपेक्षा एक और उच्चतर विधान है और स्वदेशाभिमान की अहंमन्यता की अपेक्षा एक उच्चतर प्रेम है। अपने देश की

भक्ति का, विशाल मानव जाति की विशालतर भक्ति से, कोई विरोध नहीं है। राष्ट्र मानव जाति के एक एक स्वाभाविक घटक हैं और प्रत्येक राष्ट्र को अपने विशिष्ट भूत-कालीन गौरव और ऐतिहासिक परम्परा से आगे बढ़ने की एक विशेष स्फूर्ति मिलती है। केवल इसकी अति एकदेशी-यता भयंकर होती है। अपने ही देश के गुण गाना, यह समझना चाहिये कि अपने गुण आप ही गाने से कम भद्दा नहीं है। निम्न कोटि के व्यापारी-गुमाश्तों की तरह अपनी संस्थाओं और मतों की प्रशंसा के पुल बाँधना बेकार है। राष्ट्रीयता न झूठा गौरव है न असहिष्णुता ही।

संसार की एकता साधित करने के दो मार्ग हैं, या तो किसी राष्ट्र का सार्वभौम राज्य हो या सार्वभौम प्रजातंत्र। पूर्वोक्त की तो कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि राष्ट्रीयता उसमें बाधक है। यह स्वप्न बिना किसी ऐसे युद्ध के सत्य नहीं हो सकता जिसमें सब राष्ट्र मारे जायँ और संसार का नाश हो। किसी एक महान् राष्ट्र की महत्ता सिद्ध होने देने के लिये शेष संसार की बरबादी क्यों हो? आजकल के युद्धों के ढङ्ग बड़े खर्चीले और बड़ी ताकतों के काम हैं और कोई भी एक साम्राज्य इतना साधन-सम्पन्न या शक्तिशाली नहीं है कि शेष संसार को जीत ले। फिर, जगत्स्रष्टा ने भी मानव जाति

के अंतिम एकता नहीं लाया है। राष्ट्रों की भिन्न भिन्न जातियाँ बना रही हैं। परन्तु एक मार्ग अधिक सुगम और अधिक बुद्धिसंगत है, जिससे राष्ट्रीय उद्देश्यों को एक उच्चतर मानवकुल और सार्वराष्ट्रीय प्रबन्ध में लीन किया जा सकता है। इस उद्योग में प्रत्येक देश के लोग अपना अपना अर्धभाग पूरा उठावें। मानव जाति विभिन्न रूप से सुसंगठित राष्ट्रों की एकीभूत समष्टि बने। सार्वराष्ट्रीय व्यवस्था न्याय पर प्रतिष्ठित हो। यह समझना कि एशिया यदि यूरोप का अनुकरण करेगा और आर्थिक शोषण तथा राजनीतिक आक्रमण के विरुद्ध उठ खड़ा होगा तो इससे यूरोप की स्थिति बिगड़ जायगी, बड़ा ही विचित्र तर्क है। मानो हमारा स्वदेशाभिमान दैवी संकल्प है और दूसरों का आसुरी! यदि कोई देश किसी के शोषण के दक्ष भाग लेने से इन्कार करता है तो इसे एक बड़ा खतरा समझकर होहल्ला मचाया जाता है। संसार की सुरक्षितता का आधार कुछ राष्ट्रों की दासता नहीं बल्कि सब राष्ट्रों की स्वतंत्रता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का होना सार्वराष्ट्रीय सहयोग का अनिवार्य पूर्व साधन है। प्रत्येक राष्ट्र की विशिष्ट प्रतिभा को मानना होगा और सारे संसार का यह उद्देश्य और कर्तव्य होगा कि वह सब राष्ट्रों को स्वतन्त्र कर दे। यह हो सकता है कि कुछ देश अन्य देशों से पिछड़े हुए हों। पर उनकी

दुर्बलता हमारे लाभ का अवसर न बने। जो राष्ट्र अपने कमजोर पड़ोसी राष्ट्र पर गुर्राता है वह सच्चे पुरुषों की दृष्टि में उतना ही बड़ा अपराधी है जितना बड़ा वह मनुष्य जो अपने असहाय पड़ोसी को कष्ट देकर अपना काम बनाता है। व्यक्तियों की तरह राष्ट्रों को भी सहानुभूति की आवश्यकता होती है। जो लोग अपने पुराने कुसंस्कारों से छूटने का प्रयत्न कर रहे हैं उनके प्रति राजनीतिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों का भाव सहानुभूति और सेवा का होना चाहिये, संरक्षकता और नियामकता का नहीं। प्राच्य जगत् का जागरण यूरोप के लिये भय का कारण न समझना चाहिये। चीन का खून इस समय खौल रहा है। हिन्दुस्थान की स्वाधीनता का प्रश्न केवल अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। तुर्की, ईरान और अफगानिस्तान बड़ी तेजी से आधुनिक बनते जा रहे हैं, और यह सब हो रहा है संसार के भले के लिये। कोई राष्ट्र दूसरों से लापरवा होकर नहीं रह सकता। राष्ट्रों का अन्योन्याश्रय दिन दिन तेजी के साथ बढ़ रहा है और मानव जाति की भवितव्यता का विश्वास हमारे अन्दर वह तेज और उत्साह भर दे कि जहाँ कहीं भी अत्याचार और अन्याय हो रहे हों उनके विरुद्ध हम युद्ध करने के लिये उठ खड़े हों।

केवल उत्तम आदर्श का होना ही पर्याप्त नहीं है, उसके

साथ उसे कार्य में परिणत करने की पद्धति भी होनी चाहिये। राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) और केलाग-पैक्ट लोकमत तैयार करने के उपयोगी साधन हैं। राष्ट्रसंघ के विषय में, अवश्य ही, बहुत लोगों के चित्त में यह संशय बद्धमूल हो गया है कि यह राष्ट्रसंघ मित्र राष्ट्रों के हाथ का केवल एक हथियार है और यह इसलिये बनाया गया है कि अभी की स्थिति बनी रहे। और हर तरह से उसकी रक्षा की जाय। सब लोग यह नहीं मानते कि यह संघ सब राष्ट्रों को स्वतंत्रता की अवस्था और सुरक्षितता प्राप्त करा देने का संकल्प रखता हो। केलाग-पैक्ट का मूल्य उस पैक्ट के बनानेवाले के ही इस कथन से बहुत घट जाता है कि प्रत्येक राष्ट्र "अकेला ही इस बात का निर्णय करने में समर्थ है कि परिस्थितिविशेष में युद्ध का अवलम्ब करना उसके लिये आवश्यक है या नहीं।" यदि हम युद्ध की प्रथा को राष्ट्र की नीति के एक अंग के तौर पर रखना नहीं चाहते, उठा देना चाहते हैं तो हमें बिना किसी शर्त के ऐसा कर डालना चाहिये। न्याय युद्ध कभी हो ही नहीं सकता। राष्ट्र की नीति के एक अंग के तौर पर यह चीज हमें रखनी ही न चाहिये। रक्षा के हेतु से भी युद्ध किया जाय तो भी उसका समर्थन न करना चाहियें। रक्षा में भावी संकटों का समावेश कर इस रूप से आक्रमण का भी समर्थन

किया जा सकता है। जहाँ सब धुंधला ही धुंधला है वहाँ प्रकाश और अन्धकार के बीच कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। फिर, हिंसा के बाद प्रतिहिंसा भी अवश्यम्भावी है और तब सत्य की मान्यता के लिये कोई अवसर ही नहीं रह जाता। जब तक राष्ट्र अपने दायरे के अन्दर ही घूम रहे हैं तब तक झगड़ों का होना अनिवार्य है। जब तक जगत् के राष्ट्र नये नये बाजार ढूँढ़ते और उनका विस्तार करते रहेंगे तब तक जगत् के हर मोड़ पर प्रतिद्वन्द्विता के साथ ही वे एक दूसरे से मिलेंगे। पर इन सब झगड़ों को बुद्धि से निपटाना चाहिये, बल से नहीं। हम लोगों को कानूनों का एक समान कानून-संग्रह विकसित करना होगा, एक ऐसा सर्वश्रेष्ठ न्यायालय स्थापित करना होगा जिसके निर्णय जगन्मान्य होने योग्य हों, और पुलिस का एक ऐसा महादल संघटित करना होगा जो उस न्यायालय के हुक्मों की तामील कराये। जब तक बड़े राष्ट्र अपने उस प्रभुत्व का किंचित् लेश भी छोड़ने को तैयार न हों जिसे वे आवश्यकता पड़ने पर अपने बल से बना रखने को प्रस्तुत हैं, तब तक ऐसे राष्ट्र-संघ और केलाग-पैक्ट केवल उपहासमात्र हैं।

धार्मिक आदर्शवाद ही सबसे अधिक आशाजनक राजकीय उपकरण प्रतीत होता है। उससे संसार में वह शान्ति स्थापित

हो सकती है जिसका नमूना संसार ने कदाचित् ही देखा हो। जब तक हम लोग कर्त्तव्यों और अधिकारों की नींव पर खड़े हैं तब तक मनुष्यों के परस्पर विरोधी स्वार्थों और आशाओं का हम कोई मेल नहीं करा सकते। सन्धि-पत्र और राजनीतिक समझौते मनोवेग को रोक सकते हैं पर उनसे भय का निवारण नहीं होता। संसार में तो सर्वत्र मानव जाति के प्रेम का संचार होना चाहिये। इसके लिये उन धार्मिक वीरों की आवश्यकता है जो सारे जगत् के पलटने की राह न देखें बल्कि आवश्यकता हो तो अपने प्राणों की बाजी लगाकर इस विश्वास में निहित सत्य को सिद्ध करें कि, "पृथ्वी पर एक ही परिवार है;" दूसरा नहीं। आवश्यकता है उन वीरों की जो स्यड होल्डर के इस मन्त्र को ग्रहण कर लें कि, "कार्य का भार उठा लेने के लिये मुझे किसी आशा की आवश्यकता नहीं, न उसमें लगे रहने के लिये सफलता की ही आवश्यकता है।"

* इति *